भगवान् श्री विष्णु

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८६

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीत प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

●

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

●

संशोधित मूल्य २-०-रुपया

प्रथम संस्करण १००० | नवम्बर १९७१ मार्गशीर्ष सं०-२०२८ | मूल्य : १.६५

विषय-सूची

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६)५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथम खंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ११) हैं। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त सकीर्तन भवनो मे मिलती हैं सारी पुस्तको का डाक खर्च अलग देना होगा।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

संस्मरण

[बड़े बनने की वासना]

गृहेषु पंडिताः केचित् केचित् मूर्खेषु पंडिताः ।
सभायां पंडिताः केचित् केचित् पंडित पंडिताः ॥*

(नी० वा०)

छप्पय

खावें सोवें करें पुत्र पैदा मरि जावें ।
का तिनिको है चरित अन्न-मल नित्य बनावें ॥
सद्गुन निष्ठा होहि धरम हित प्रान गवावें ।
चरितवान ते पुरुष कवीश्वर तिनि गुन गावें ॥
नहीं वासना तैं अमर, सद्गुन अमर बनावते ।
रहें सतत पर हित निरत, तेई साधु कहावते ॥

मानव अमृत का पुत्र है, अतः सदा अमर रहने की इच्छा करता है। वह परम प्रसिद्ध प्रतिष्ठित है, सबसे बड़ा है, महान् है, अतः पुरुष भी प्रतिष्ठित बनने की इच्छा करता है । सभी की आन्तरिक अभिलाषा यह रहती है,

---

* कोई तो अपने घर की हो स्त्रियों मे पंडित बन जाते हैं कुछ लोग मूर्खों की ही दृष्टि मे पंडित होते हैं। कुछ लोग केवल सभा मे ही पंडित कहलाते हैं और कुछ लोग जो पंडितों द्वारा मान्य हैं, वास्तव में वे ही पण्डित हैं।

कि सब लोग मेरी प्रतिष्ठा करें, मुझे बड़ा मानें और जब तक सूर्य-चन्द्र, गंगा-यमुना, हिमालय तथा सुमेरु रहें, तब तक मेरी कीर्ति दिगदिगन्तों मे व्याप्त रहे। संसार में चार प्रकार के लोग होते है। बहुत से लोग तो ऐसे होते हैं, जिन्हें धनोपार्जन का ही व्यसन होता है। कितना भी धन उन्हें क्यों न प्राप्त हो जाय, उससे उनकी तुष्टि नहीं होती। जितना ही धन उन्हें प्राप्त होता है, उससे दुगुनी तृष्णा बढ जाती है। वे धन के पीछे स्त्री, पुत्र, परिवार, पद प्रतिष्ठा सभी का बलिदान करने को उद्यत रहते हैं।

दूसरे वे लोग होते हैं, जो धन तो चाहते ही हैं साथ ही प्रतिष्ठा भी चाहते हैं। धन को सम्मान पूर्वक उपार्जित करना चाहते हैं। असम्मान पूर्वक धन मिलता हो, तो उसका तिरस्कार कर देते हैं। वे धन के साथ मान को चाहते हैं।

तीसरे वे होते हैं, जो केवल सम्मान के ही भूखे रहते हैं। सम्मान के लिये वे स्त्री, पुत्र, धन वैभव यहाँ तक कि प्राणों को भी हँसते-हँसते त्यागने को उद्यत हो जाते हैं। तीन इच्छायें सबके मन मे होती हैं धन की इच्छा, पुत्र की इच्छा और बड़े बनने की, सम्मानित होने की इच्छा। इसमें से किसी में कोई इच्छा अधिक होती है किसी मे न्यून। वास्तव मे ये तीनों ही इच्छायें अज्ञानजन्य है। इच्छा करने मात्र से ही उसकी पूर्ति नहीं होती। ये वस्तुएँ तो प्रारब्धानुसार ही मिलती हैं।

पहिले धन को ही ले लीजिये। संसार मे निर्धन रहना कोई भी नहीं चाहता। धन की इच्छा छोटे-बड़े, पंडित-मूर्ख सभी को होती है, किन्तु सब धनी नहीं होते। धन तो प्रारब्धानुसार मिलता है। आपके प्रारब्ध मे धन है, तो आप बालू वाले मरुदेश में जाकर बैठ जायँ, वहाँ भी आपको प्रारब्धानुसार धन मिल जायगा। यदि आपके भाग्य में धन नहीं है, तो आप चाहें सुवर्ण

के सुमेरु पर्वत पर ही जाकर क्यों न बैठ जायें, वहाँ भी आपको इच्छानुसार धन प्राप्त न होगा। फिर मान लो, धन मिल ही गया, तो धन खाया तो जाता नहीं। धन की इच्छा भोग-सुख के निमित्त करते हैं, कि हमारे पास जितना ही अधिक धन होगा, हम उतना ही अधिक सुख प्राप्त कर सकेंगे। किन्तु यह कोरा भ्रम ही-भ्रम है, त्रुटिपूर्ण अन्धपरम्परा है। धन से सुखी न आज तक कोई हुआ न है और न आगे होगा। धन जब आता है, तो अकेला नहीं आता। जैसे मालती मल्लिका आदि के पुष्प आते हैं तो सुगन्ध को साथ लेकर आते हैं। उसी प्रकार धन जब आता है, तो १५ व्यसनों को साथ ही लेकर आता है।

धन आने पर उसे बढाने की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। धन बढाने की इच्छा इतनी तीव्र होती है, कि जैसे तैसे भी जिस उपाय से भी हमारा धन बढ़ जाय। यदि काला बाजार से भी धन बढे, चोरबाजारी से भी धन बढता देखे तो धनी बनने की इच्छा वाला उससे भी नहीं चूकता।

धन तभी बढेगा, जब दूसरों का धन अपने पास आवे। स्वेच्छा से कोई भी धन को छोडना नहीं चाहता। अतः धन प्राप्ति के लिये शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक किसी भी प्रकार की हिंसा अवश्य ही करनी पडती है। धन हिंसा किये बिना बहुत मात्रा में प्राप्त नहीं होता।

धन आते ही उसके साथ असत्य भाषण आता है, किसी भी धनी से उसके धन की संख्या पूछो, तो वह सत्य-सत्य कभी न बतावेगा। सत्य और झूठ व्यापार में साथ ही-साथ चलते हैं और धन विशेषकर व्यापार से ही बढता है। कोई विरला ही ऐसा धनिक होगा, जो धन के रखने में, अर्जन करने में असत्य भाषण न करता हो।

धन आने पर जीवन मे दम्भ का प्रवेश स्वाभाविक है, दम्भ उस कहते हैं, जेसे हम वास्तव में हैं नहीं, किन्तु दूसरों पर वैसा प्रकट करना। हमारे पास करोड रुपये हैं नहीं, किन्तु स्वार्थ सिद्धि के लिये अपने को करोडपति प्रकट करना। धार्मिक हैं नहीं, किन्तु काम चलाने को अपने लिये धार्मिक प्रकट करना।

धन आने पर नाना कामनायें आकर घेर लेती हैं, अबके अधिक धन आ जाय, तो इन्द्रिय सुख के लिये अमुक भोग सामग्री लेंगे, अमुक इच्छा की पूर्ति के लिये अमुक व्यापार करेंगे। ऐसी ऐसी कामनायें एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी उठती रहती हैं, जो जीवन में कभी पूरी होती ही नहीं।

धन आने पर क्रोध का बढना स्वाभाविक ही है। धनिकों के अकारण अनेकों शत्रु हो जाते हैं, उनसे मन से वचन से और कभी-कभी कर्म से भी क्रोध करना ही पडता है। क्रोध न करें, तो आस पास के विरोधी लोग रहने ही न दें। वे अनेकों बहाने बनाकर धनिकों के धन को ऐंठने की घात मे लगे ही रहते हैं।

धन आने पर निर्धन लोगों के प्रति तुच्छता के भाव स्वतः ही आ जाते हैं। अपने धन पर अपनी सम्पत्ति पर, धन के द्वारा जो अपना इतना मान सम्मान होता है, सब पर प्रभाव छाया रहता है, उसका मन ही मन गर्व बना रहता है। देखो, हम इन लोगों की अपेक्षा कितने सम्पन्न हैं, कितने सुखी है।

धन आने पर अहङ्कार अपने आप बढ जाता है। प्रायः धनी लोग अहङ्कारवश अपने से छोटे लोगों से बातें नहीं करते। उनके साथ उठना बैठना उन्हें प्रिय नहीं लगता। अपने सगे सम्बन्धी भी यदि निर्धन हों, तो अहङ्कार के वशीभूत होकर उनसे भी बातें करना उन्हें रुचिकर नहीं होता।

धन आते ही यह बड़ा है—यह छोटा है, यह हमारी बराबरी का है—यह हमसे निकृष्ट है। यह हमसे ऊँचा है—यह हमसे नीचा है। इस प्रकार भेद-भाव स्वतः ही मन में आ जाता है। इच्छा न रहने पर भी भेद बुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है।

धन वालों से लोग अकारण ही जलने लगते हैं, बेबात बैर मानने लगते हैं। वे चाहें सबसे ऊपर से मीठा ही बोलें, किन्तु धन के कारण अन्य अड़ोसी पड़ोसियों की बात तो छोड़ दो, उनके सगे सम्बन्धी नौकर चाकर भी भीतर-ही भीतर द्वेष भाव रखते हैं। मन ही मन उनका अनिष्ट चाहते रहते हैं। जो अपना अहित चाहते हैं, उनके प्रति प्रीति ये कैसे रख सकते हैं।

धन आते ही सबसे पहिले अविश्वास आ जाता है। धनी लोग सहसा किसी का विश्वास नहीं करते। अपरिचित लोगों से सदा सशङ्कित बने रहते हैं, अपरिचितों की बात छोड़ दीजिये वे अपने सगे सम्बन्धियों, इष्ट मित्रों, परिजन पुरजनों यहाँ तक कि अपनी स्त्रियों, पुत्रों तक का विश्वास नहीं करते। उन्हें सदा सर्वदा शंका बनी रहती है, कि मुझे कोई ठग न ले जाय।

धन में स्पर्धता तो निश्चय ही होती है। वह मेरा साथी था, वह इतना बढ़ कैसे गया, उसका मुझसे अधिक सम्मान कैसे हो गया। वह अमुक पद पर मेरे रहते कैसे चुन लिया गया। उसका घर, उसके वाहन मुझसे अधिक सुन्दर कैसे हो गये। धनी धनियों में परस्पर स्पर्धा प्रायः बनी ही रहती है।

धन आने पर दूसरों को ठग लेने की, लम्पटता करने की प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। एक दूसरे को ठग लेना चाहते हैं। चाहे उसमें सफलता प्राप्त हो या न हो। इच्छा यही रहती है कि किसी प्रकार दूसरों को उल्लू बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध किया जा सके।

धन आते ही द्यूत की प्रवृत्ति स्वतः ही होने लगती है। केवल कौड़ियों से या पाशों से ही खेलने का नाम द्यूत नहीं है। थोड़ा धन लगाकर बहुत धन कमाने की प्रवृत्ति को द्यूत कहते हैं। उसके शेयर, सट्टा, लाटरी, दड़ा आदि अनेक भेद हैं।

धन आने पर मादक द्रव्यों के सेवन से कोई ही भाग्यशाली बचा रहता होगा, नहीं तो कोई-न कोई व्यसन पीछे लग ही जाता है और उसमें धन को पानी की भाँति बहाने में कुछ भी कष्ट प्रतीत नहीं होता।

जिनके पास धन नहीं होता, वे समझते हैं धनी लोग बड़े सुखी रहते होंगे, उनको कभी किसी भी वस्तु का अभाव न होता होगा, किन्तु हमने धनिकों को देखा है, वे सदा दुखी, चिन्तित तथा रोग ग्रस्त ही बने रहते हैं। उन्हें न भोजन अच्छा लगता है न रात्रि में सुख की निद्रा ही आती है। ऐसे धन से भला क्या लाभ ?

यही दशा पुत्र तथा अन्य सन्तानों की है। पुत्र न हो तो कष्ट, हो और मूर्ख निकल गया तो कष्ट, पढ लिखकर रोगी हो गया तो कष्ट, मर गया तो महान् कष्ट। सारांश यह है कि सन्तानों से भी आज तक कोई सुखी नहीं हुआ।

रही पद प्रतिष्ठा की बात। सो पद प्रतिष्ठा का आकर्षण कुछ ही दिन रहता है, पीछे वह भी एक व्यसन ही हो जाता है। नेताओं में परस्पर में बड़ी लाग-डाँट, राग-द्वेष, उठा-पटकी बनी रहती है। सभी चाहते हैं, हमारा अधिक नाम हो, हम इतिहास में अमर हो जायँ, किन्तु कौन अमर हुआ है। कितने कितने बड़े धनी, मानी, वैभवशाली, प्रसिद्ध पुरुष हुए। भगवत् सम्बन्ध से किसी का नाम भले ही शेष रहा हो, नहीं

तो कौन उन्हें जानता है। फिर भी मनुष्य प्रतिष्ठा के लिये न जाने क्या-क्या कार्य करते रहते हैं।

ससार में मनुष्य को अनुभव से जितना ज्ञान होता है, उतना पुस्तक पढकर नहीं होता। यह ससार खुली हुई पुस्तक है, इसे ही पढने की चेष्टा करे। प्रत्येक घटना से शिक्षा ले। पुस्तकी विद्या काम नहीं देती। लोक मे कहावत है, वे पढ़े हैं, गुने नहीं। वास्तव में गुनना तो व्यवहार में ही होता है। भिन्न-भिन्न प्रकृति के पुरुषों के बीच मे रहने से, भिन्न-भिन्न घटनाओं के देखने से मनुष्यो के अनुभव में वृद्धि होती है, उसी का नाम गुनना है।

मैं स्वतन्त्रता आन्दोलन में किसी प्रलोभनवश नहीं पड़ा। पद प्राप्ति की तो अपने में योग्यता ही नहीं थी। हाँ, प्रतिष्ठा की इच्छा मनुष्य की स्वाभाविक निर्बलता है, जेव धर्म है, वह तो थी ही, किन्तु कोई सासारिक प्रलोभन नहीं था। इसमे आने पर अनुभव बहुत हुए। बहुत से भ्रम दूर हुए। पहिले इन समाचार पत्रों के सम्पादकों को हम ईश्वर तुल्य ही समझते थे। सोचते थे–जो पत्रों का सम्पादन करते हैं, नित्य नई नई बात छापते हैं, वे कितने ज्ञानी, सदाचारी, महान् होते होंगे ? जिनके नाम मोटे-मोटे शीर्षकों में नित्य छपते हैं, वे नेता कैसे महान होते होंगे। देहली हमारे समीप थी, वहाँ के हिन्दू मुसलमान बडे बड़े नामी नेता प्रायः हमारे यहाँ आते ही रहते थे। खिलाफत का भी आन्दोलन साथ ही चल रहा था। अतः प्रायः सभी मुसलमान नेता हमारे यहाँ आते। बड़े बड़े सम्पादक भी आते। उनके ससर्ग मे आने से मुझे अनुभव हुआ कि ढोल जितना भारी शब्द करता है, वह भीतर से उतना ठोस–दृढ नहीं होता। उसके भीतर तो पोल-ही-पोल है। बहुत से नेताओं के हम लेख पढते, पुस्तकें

पढते, उनके लेख पढकर पुस्तकें पढकर उनके साहस के प्रति श्रद्धा होती, सोचते वे कैसे होंगे। जब उनसे साक्षात्कार हुआ, उनके जीवन को निकट से देखा, तब भ्रम दूर हुआ, अपने निश्चय में परिवर्तन करने को वाध्य होना पडा। प्रान्तीय नेता भी आते, उनका भी स्वागत सत्कार करने का अवसर मिलता। सबसे अधिक प्रभावित मुझे पडित जवाहिरलालजी नेहरू की सादगी ने किया। उन दिनों में उनकी सादगी, सरलता, मानवता तथा सौम्यता के वशीभूत हो गया। इसके पहिले में कभी भी किसी इतने बडे आदमी के ससर्ग में नहीं आया था। यह मै मानता हूँ, कि पडित जवाहिरलाल नहरू द्वारा हमारे देश का और विशेष हिन्दू धर्म का अहित ही हुआ है। आज जो भ्रष्टाचार, पापाचार, अधार्मिकता की प्रवृत्ति, धर्म का ही न मानने की भावना समाज में प्रचलित हो गयी है, इसमें उनका शासन भी कारण है। इतना सब होते हुए भी उनमें मानवता थी। शासन हाथ में आने पर परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है, यह उनका व्यक्तिगत दोष न होकर शासन का पद का दोष है। किन्तु जब तक उनके हाथ में शासन नहीं था, देशभक्ति की प्रबल भावना थी, उस समय उनकी मानवता देखने ही योग्य था। सर्वप्रथम के ससर्ग में ही उन्होंने मुझे अत्यत प्रभावित किया। यह स्यात् सन् २० की बात होगी। आगरा में सयुक्त प्रदेश का प्रातीय राजनैतिक सम्मेलन था। पहिले जब भी राजनैतिक सम्मेलन होते, उसके साथ हिन्दू सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा गोरक्षा सम्मेलन भी होते थे। उस समय हिन्दू कहलाना अपराध नहीं माना जाता था। उस समय जो हिन्दू सभा के नेता होते थे, वे ही काग्रेस के भी नेता होते थे। महामना मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्दजी, लाला लाजपत राय, प० मोतीलाल नेहरू, डा० मुंजे, डा० भगवानदास, बा० श्रीप्रकाश, बा० पुरुषोत्तम

दास जी टण्डन, बाबू सम्पूर्णानन्द ये सब हिन्दू सभा के नेता थे। विहार के जगत् नारायण लाल, जगजीवनराम ये सब हिन्दू सभा के ही थे। उन दिनों देशभक्त होने वालों के लिये चार बातें अनिवार्य थीं (१) खद्दर का व्यवहार, चर्खा चलाना, स्वदेशी वस्तु व्यवहार, (२) हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानकर उसका प्रचार-प्रसार करना, (३) गौरक्षा में निष्ठा रखना और (४) हिन्दू मुस्लिम एक्य।

तो आगरा के राजनैतिक सम्मेलन के साथ ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भी अधिवेशन था, जिसके स्यात् सभापति टण्डन जी थे। हम लोग बुलन्दशहर जिले से १०-२० आदमी एक साथ हो गये थे। सिकन्दराबाद तहसील के ४५ आदमी थे, उनमें एक बहुत सुन्दर शेर गाते थे। उन्होंने राष्ट्रीय भावना की छोटी-छोटी पुस्तकें छपा रखी थी। वे उन्हें गा-गाकर दो-दो या चार-चार पैसे में बेचते थे। उनके गाने को सुनकर प्रत्यक स्टेशन पर सैकडों आदमियों की भीड लग जाती। जैसा उत्साह सन् २१ में मैंने देखा, वैसा किसी भी आन्दोलन में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। वैसे हमने पीछे उससे बडे-बडे अनेकों सम्मेलन किये। बहुत बड़े बड़े आन्दोलन भी किये। किन्तु वसी तन्मयता, वैसी भावुकता, उस प्रकार की कार्य कर्ताओं में सची लगन फिर देखने को न मिली। उससे पहिले इतना बडा सम्मेलन हमने देखा भी नहीं था। बडा भारी पडाल उसमें सफेद गांधी टोपी ही टोपी दिखायी देती थी। वहाँ पर अब्दुल कलाम आजाद, टण्डन जी, जवाहिरलाल जी तथा अन्यान्य प्रांतीय नेताओं के सर्वप्रथम दर्शन हुए। उन दिनों जवाहिरलाल जी नवयुवक थे। मोटी खादी की धोती, मोटा सफेद कुर्ता पहिने अँग्रेजो की भाँति लाल आकर्षक चेहरा देखने

में बड़े ही भव्य प्रतीत होते थे। मुझे याद है कि उस सम्मेलन में एक आर्यसमाजी महिला भजनोपदेशिका आयी हुई थी। उसका नाम तो अब याद नहीं रहा। उसका गला बड़ा सुन्दर था, बड़े स्वर से भजन गाती थी। उसके भजनों की बड़ी धूम थी। लोगों को उसके भजन बड़े प्रिय लगे थे। पं० जवाहिरलाल नेहरू ने बड़े कड़े शब्दों में उसका विरोध किया। मुझे अभी तक ज्यों का त्यों याद है। पंडितजी ने कहा था - "मैं तो ऐसे प्लेटफार्मों पर ऐसी बाजारू औरतों का सख्त विरोध करता हूँ।" उनके विरोध का ही यह परिणाम हुआ कि उसे फिर मंच पर बोलने का समय नहीं दिया गया।

मैंने सोचा—चलो, पंडितजी से मिल तो लें। यह सोचकर मैं अकेला ही उनके पास चला गया। वे अत्यन्त ही सौम्यता शिष्टाचार से मिले। अब मैं उनसे बात क्या करूँ। मैंने वैसे ही शिष्टाचारवश कहा—"मैं खुरजे में कार्य करता हूँ। एक बार आपको खुरजा चलना चाहिये।"

उन्होंने मेरा परिचय पूछा, न यह पूछा खुरजा कहाँ है, तुम कौन हो? छूटते ही कहा—'अच्छी बात है चलेंगे।"

मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी, कि वे इतनी शीघ्रता से स्वीकार कर लेंगे। मैं कुछ बुलाने की इच्छा से तो गया नहीं था, शिष्टाचारवश बात चलाने को कह दिया। और अब उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया, तो मुझे महान् आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—"तो मैं कब आऊँ?"

उन्होंने कहा—"रात्रि के अमुक बजे आ जाना।"

नियत समय पर मैं पहुँचा वे तैयार बैठे थे। एक छोटी-सी पिटारी जिसमें कपड़े थे, उसे हाथ में लिया और मेरे साथ स्टेशन चल दिये। जो चद्दर वे ओढ़े थे उसी को ओढ़े थे। साथ में कोई

बिस्तरा नहीं, अन्य सामान नहीं। उन दिनों रेल में तृतीय श्रेणी के पश्चात् एक ड्योढी श्रेणी होती थी। उसकी वे स्वय दो टिकटें ले आये और गाडी में बैठ गये। प्रातः ३-४ बजे खुरजा जक्शन पर उतरे। कोई सवारी नहीं। एक टूटा-सा इक्का था, उसी में बैठ कर हम अपने बाजार के उसी गन्दे अड्डे में पहुँचे। वहीं भूमि पर हमने कपडा बिछा दिया उसी पर वे लेट गये।

प्रातःकाल हमारा एक अत्यत गन्दा हाथ से सफा करने वाला शौचालय था उसी मे वे चले गये। स्वयं स्नान किया। खद्दर की मोटी धोती को स्वय धोया, अपने कुरते में धोती में साबुन स्वय लगाया। मैंने बहुत कहा—"मैं धो दूँगा, उन्होंने इस बात को स्वीकार ही न किया। कुछ देर पश्चात् नगर के कुछ लोग आ गये, उनसे बातें करते रहे। उन दिनों कपडे बेचने वाले व्यापारियों से यह आग्रह किया जाता था, कि वे विदेशी वस्त्रों पर सील मुहर लगवा कर रख दें। स्वदेशी कपडा बेचें। वे वस्त्र-विक्रेताओं से यही आग्रह करते रहे। कुछ ने माना, कुछ ने टाल-मटोल कर दी। किसी प्रकार के जलपान या चाय का हम प्रबन्ध नहीं कर सके।

दोपहर के समय हमारे नीचे एक जैनी सेठ रहते थे, उनके यहाँ से हम दाल-रोटी साग माँग लाये। प्रतीत होता था, बिना छुरा काटा चम्मच के भोजन करने का उनका यह प्रथम ही अवसर था। तब तक हमने न तो छुरी काँटे देखे ही थे, न किसी को छुरी काटों से खाते देखा ही था। अब हम सबको छुरी काटों और चम्मचों से खाते देखते हैं। नवीन ढँग के शौचालय (पलसवाले) में जाते देखते हैं, तब अनुभव करते हैं, उन्हें हमारे इस ग्रामीण व्यवहार से कितनी असुविधा हुई होगी, किन्तु उन्होंने किसी भी प्रकार यह प्रकट नहीं होने दिया, कि हमें यहाँ

बडी असुविधा है। सब व्यवहार में हँसते ही रहे। उन दिनों वे खद्दर का मोटा जनेऊ भी पहिनते थे और स्नान के अनन्तर आसन मारकर नेत्र बन्द करके कुछ समय ध्यान भी करते थे।

उनके रोटी खाने के ढंग को देखकर हमें बड़ी हँसी आ रही थी। वे पूरी रोटी को उठाते उसमें उँगली से छेद करते, फिर जैसे कपड़ा को फाड़ते हैं ऐसे उसे फाड़कर उसके टुकड़े करते। टुकड़े को मुख में रख कर ऊपर से थाली उठाकर दाल पी जाते। तब तो हम उसका रहस्य समझे ही नहीं। जब लोगों को छुरी से डबल रोटी काटकर काँटे से उठाकर खाते देखा और चम्मच या काँटे से उठाकर दाल साग खाते देखा, तब रहस्य समझ मे आ गया।

मैंने कहीं एक लेख पढ़ा था, विदेशों मे कोई हमारी प्रदर्शिनी लगी थी। उसमे भारतीय मंडप भी लगा था, भारतीय ढँग का वहाँ भोजन भी मिलता था, उसे देखने बहुत से विदेशी आते थे। एक स्काटलैंड का दूध का व्यापारी उसे देखने आया था, उसी ने वह लेख लिखा था। वह भारतीय मंडप को देखकर अत्यन्त ही प्रभावित हुआ था। उसने लिखा—"भारतीय महिलाओं के ऐड़ी तक लटकते हुए केश अत्यन्त ही मनोहर थे। मुझे उनके केश विन्यास सबसे सुन्दर लगे। भारतीय महिलाओं की साड़ी अत्यंत ही मनोरम होती है। संसार मे स्त्रियों के लिये इससे सुन्दर कोई पोशाक हो ही नहीं सकती। वह साडी जैसा अंग होता है, वैसी ही मुड़ जाती है। उसमें भारतीय महिलायें अत्यंत भव्य लगती हैं। आश्चर्य की बात तो यह है, कि उनमें न पिन का प्रयोग होता है, न वह फीते से या किसी अन्य वस्तु से बाँधी जाती है। भारतीय स्त्रियाँ उन साड़ियों को ऐसे ढँग से

पहिनती हैं, कि बिना पिन, फीता, पेटी या अन्य उपकरणों के वे स्वतः ऐसी कसी रहती हैं, कि खुल नहीं सकतीं।

भारतीय भोजन बनाने वाले रंग बिरंगी पगडियाँ बाँधे थे। वहाँ दोनों प्रकार का भोजन का प्रबन्ध था, जो चाहे मेज कुरसी पर बैठकर खायँ, जो चाहे भारतीय ढंग से पटरे पर बैठकर पालती मारकर भूमि मे खायँ। मुझे भारतीयो के भोजन करने का ढंग अत्यन्त ही विचित्र लगा। वे भूमि पर बैठकर बिना काटे, चम्मच और छुरी के ही भोजन कर लेते हैं और आश्चर्य की बात तो यह है, कि उनके हाथ भी गन्दे नहीं होते। दूसरे हाथ को भी वे भोजन में नहीं लगाते। मेरे सामने ही एक गुजराती महिला भोजन करने आयी। वह अत्यन्त ही सुन्दरी थी, पतला इकहरा शरीर, आकर्षक भव्य साडी पहिने हुए थी, वह हाथ धोकर भोजन करने बैठी, थाल मे दाल भात, कढी, साग सब वस्तुएँ परसी गयीं। उनमे चम्मच, काटा, छुरी कोई वस्तु नहीं थी। गरम-गरम चपातियाँ भारतीय रसोइया इस ढंग से फेंकता जाता था, कि उसके थाल से वे इधर उधर नहीं गिरती थीं। वह महिला एक ही हाथ से ऐसी तरकीब से रोटी को तोडती कि खाने योग्य ही ग्रास टूटता था, न बडा न छोटा। फिर उस रोटी के टुकडे का ही वह चम्मच बना लेती। उसी चम्मच में बारी बारी से दाल, साग, कढी, रायता भरती और मुख में चम्मच सहित उसे डाल लेती। अहा! कैसी अजीब बात। प्रत्येक ग्रास चम्मच और भोज्य पदार्थ तथा चम्मच दोनों ही पेट में चले आते। मैं जब तक वह भोजन करती रही, उसे ही एकटक देखता रहा। हम योरोपीय लोग तो भोजन करते हैं, तो गले में वक्षः पर एक कपडा डाल लेते हैं, जिससे साग आदि से कपडा खराब न हो। हाथ से कोई वस्तु छूते नहीं। सब छुरी

कांटों की सहायता से खाते हैं। वह भारतीय महिला बिना छुरी कांटे चम्मच के खाती रही। न उसका कपड़ा ही खराब हुआ न उसके हाथों मे ही दाल कढ़ी साग आदि लगे। भारतीयों के खाने का ढंग मुझे बड़ा ही अद्भुत लगा।"

इस लेख को पढ़कर ही मैं समझा योरोप के लोग हमें बिना छुरी कांटे और चम्मच के खाते देखकर आश्चर्य करते हैं। पंडितजी बाल्यकाल से विदेशों मे रहे, वहीं पढ़े-लिखे, छुरी कांटों और चम्मचों से खाने के आदी रहे होंगे। घर पर भी वैसे ही खाते होंगे। हम लोग कैसे ग्रास तोड़कर उसमे दाल साग लगाकर खाते हैं, तब तक उन्हे इसका पता ही न रहा होगा, अतः उँगली से छेद करके वे उससे छुरी का काम लेते होंगे और रूखी रोटी मुख मे रखकर ऊपर से दाल पीकर उसे खाते होंगे। दो या तीन रोटी उन्होंने खायी होगी। तनिक देर आराम करके फिर लोगों से बातें करने लगे। उनके स्वागत सम्मान में न हमने कोई शोभा-यात्रा निकाली न कोई बड़ी सभा की। स्यात् साधारण-सी सभा की। किन्तु उन्होंने अपनी बात-चीत से, व्यवहार से, चेष्टा से यह हमे तनिक भी आभास नहीं होने दिया, कि हमने उनके अनुरूप व्यवहार नहीं किया, या हम आकर बुरे फँसे।

उसी समय बुलंदशहर से भी कुछ आदमी आ गये, उन्होंने बुलंदशहर चलने को कहा। पंडितजी ने स्वीकृति दे दी। मैंने जैसे-तैसे एक सेठ से उसकी एक घोड़ा की बग्गी माँगी। खुरजा से बुलंदशहर स्यात् १५-१६ मील है। हम उस बग्गी में बैठकर बुलन्दशहर पहुँचे। वहाँ पंडितजी के स्वागत का उपयुक्त प्रबन्ध था। एक बहुत बड़े कलहोपजीवी (वकील) की कोठी में उनके ठहरने का प्रबन्ध था। वहाँ का रहन-सहन, व्यवहार-बर्ताव, विराट सभा सभी उनके उपयुक्त ही थे। वहाँ से हम लोग

बुलदशहर की एक तहसील सिकन्दराबाद गये। वहाँ एक कायस्थ राय साहब के घर ठहरे। उनकी स्त्रियों ने बडे ही प्रेम से राजसी भोजन बनाया। बीसा छोटी-छोटी कटोरियों मे भाँति भाँति के मीठे, चरपरे, नमकान व्यजन बनाये। पडितजी से भोजन को कहा गया, तो उन्होंने कहा—'मैं तो एक ही समय भोजन करता हूँ। रात्रि में कुछ नहीं खाता।"

उन लोगा ने बहुत अनुनय विनय की, कहा—"हमारी बहिन ने बूआ ने अत्यन्त ही प्रेम से बनाया है, चाहें थोडा ही खा लीजिये" किन्तु वे अपने निश्चय से टस से मस भी नहीं हुए। बार बार यही कह देते—"ब्रह्मचारीजी को खिला दो।"

अन्त में उन्हाने मुझे ही खिलाया। इतने व्यजनों का सजा थाल, इतनी छोटी-छोटी चमकती कटोरियाँ जीवन में मैंने पहिले ही पहिल देखी थीं। मैंने कहा—"बाबूजी! मुझे तो पूडी साग, रबडी इतनी ही वस्तुएँ दे दीजिये। इन कटोरियों से मेरा क्या पेट भरेगा ?"

वे बोले "महाराज! आप भी ऐसा कहेंगे क्या ?"

मैंने कहा—"अच्छा जो चाहो सो लाओ। वह नाना व्यजनों से सजा थाल मेरे सम्मुख लाया गया। मैं आँख मूँद कर जो कटोरी सामने आ जाय, उसी को सफा करने लगा। कभी कोई चटपटी वस्तु आ जाय, कभी नमकीन, कभी मीठी, कभी चटनी। सब कटोरियों को साफ करके खीर, पूडी और साग पेट भरकर खाया।"

दूसरे दिन फिर हम रेल से खुरजा स्टेशन पर आये। ३ ४ दिन निरन्तर साथ रहने से मेरा उनसे अत्यन्त स्नेह हो गया था। अब वियोग का समय आया। मैं बच्चों की भाँति फूट-फूटकर रोने लगा। उन्होंने अत्यन्त ही स्नेह से मुझे प्यार किया और

कहा—"प्रयाग में आनन्द भवन मे आ जाना । वहाँ फिर मिलेंगे ।"

मैंने कहा—"हमारे यहाँ कोई कार्यकर्ता नहीं । कोई कार्य-कर्ता यहाँ भेजें ।"

उन्होंने कुछ देर सोचकर कहा—"अच्छी बात है, मैं सोचूँगा ।" यह कहकर वे गाडी मे चढ़ गये । गाडी चल दी । मैं खडा खडा रोता रहा । गाडी जब आँखों से ओझल हो गयी, तो मैं लौटकर अपने स्थान पर आ गया । मुझे ससार सूना ही सूना-सा दिखायी देने लगा । ३ ४ दिन के सग की मेरे हृदय पर गहरी छाप बैठ गयी ।

उनके जाने के तीसरे या चौथे ही दिन एक १६-१७ वर्ष का कश्मीरी अत्यन्त सुन्दर लडका मेरे पास आया । उसने बताया—"मुझे पडितजी ने भेजा है ।" नाम उसने अपना स्यात् बालकृष्ण कौल बताया । सब लोगों से उन्होंने बताया—"मैं कमला नेहरू का भाई हूँ ।" सब उन्हे नेहरूजी का साला कहने लगे । मैंने पूछा—"तुम पडित जी के सगे साले हो ?" तो उन्होंने कहा—"नहीं, दूर के नाते से कमला हमारी भतीजी लगती हैं ।" वे कौलजी बडे ही मिलनसार मिष्टभाषी और स्नेही थे । हम दोनों बडे स्नेह से साथ साथ ही रहते थे । पीछे वे बुलन्दशहर मे सत्याग्रह मे पकडे गये । उसके पश्चात् उनसे फिर कभी भेंट नहीं हुई । सभव है वे अब किसी बडे भारी पद पर प्रतिष्ठित हों, कहीं राजदूत या सचिव हो गये हों । इस प्रकार नेहरूजी की सरलता मानवता तथा स्नेहशीलता का मेरे ऊपर बडा प्रभाव पडा । इसके पश्चात् फिर मेरी भेंट उनसे लखनऊ जेल मे ही हुई । जहाँ विशिष्ट श्रेणी (स्पेशल क्लास) के ही प्रान्त भरके बन्दी रखे गये थे । मुझे भी फैजाबाद जल से विशिष्ट श्रेणी में रखने लखनऊ भेजा गया

था। पंडितजी ने मुझे तुरन्त पहिचान लिया। वे और देवीदासजी गांधीजार्ज जोजिफ तथा और भी ४-५ प्रयाग के मालवीय परिवार के लोग अस्पताल के पास वाले वेरिक में रखे गये थे। जब जेल के अस्पताल में मेरी उँगली के फोडे में चीरा लगा, उस समय जेल मे आये ८-१० डाक्टर मेरी देख-रेख कर रहे थे। कानपुर के डाक्टर जवाहरलालजी ने चीरा लगाया था। उस समय मैं जोरों से चिल्लाया था। देवीदासजी तथा पंडितजी निकलकर आ गये और जब तक चीरा लगा खड़े खड़े देखते रहे। उनके हृदय में अपने सगे साथियों के प्रति बड़ी ममता थी। एक ऐसा भी समय आया, जब हिन्दू कोडबिल के प्रश्न पर मैंने चुनाव में उनका विरोध भी किया उनके विरुद्ध चुनाव लड़ा। मैं समझता हूँ, संसार में ऐसा चुनाव स्यात् प्रथम ही होगा, जब दोनों प्रत्याशियों ने अपने विरोधी के विरुद्ध एक भी शब्द न कहा हो। मैंने नेहरू जी के विरुद्ध ये ही शब्द कहे–"नेहरूजी बहुत योग्य व्यक्ति हैं, उनके ऊपर हम भारतवासियों को बड़ा गर्व है, ऐसे लोग कभी-कभी होते हैं, किन्तु वे धर्म प्रधान भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री बनने के सर्वथा अयोग्य हैं। अमेरिका इगलैंड के प्रधान मन्त्री बनने योग्य हैं।"

उन्होंने स्थान-स्थान पर मेरे सम्बन्ध मे इतना ही कहा–"ब्रह्मचारीजी की मैं इज्जत करता हूँ, वे हमारे बुजुर्ग हैं। वे माकूल आदमी हैं किन्तु उनके साथी (जनसंघी) नामाकूल हैं।" बस, इसके सिवाय उन्होंने मेरे विरुद्ध चुनाव के समय मे और चुनाव के पश्चात् १५, १६ वर्ष जिये, कभी भी न सार्वजनिक रूप में, न व्यक्तिगत प्रसंग मे कभी एक शब्द भी मेरे विरुद्ध कहा। यह उनकी महानता है। इसके विरुद्ध उस समय मुझे एक दूसरा भी अनुभव हुआ। उसे भी सुन लीजिये।

एक दिन हमे एक तार मिला। जिसमें लिखा था—"मैं देहली जा रहा हूँ, खुरजा जंक्शन पर अमुक समय मुझसे मिलो।" स्वामी सत्यदेव व्राजक।

स्वामी सत्यदेवजी थोड़े ही दिन पूर्व अमेरिका से लौटे थे। उन दिनों विदेशों से लौटे हुए विद्वानों का बड़ा सम्मान होता था। विदेशों मे सम्पन्न पुरुष ही जा सकते थे, किन्तु हमारे स्वामी सत्यदेवजी इसके अपवाद थे। वे वहुत निर्धन होने पर भी अमेरिका गये थे, वहाँ होटलो मे जूठे वर्तन धो धोकर पढ़े थे। भारतियो का दास होने के कारण सर्वत्र अपमान होता था। सत्यदेवजी साहसी थे, अक्खड़ स्वाभाव के थे, उन्होंने वहाँ गोरों से अनेक प्रकार से टक्करें ली थीं। यहाँ आकर उन्होने कई पुस्तकें हिन्दी में लिखी थीं। 'मेरी अमेरिका यात्रा', 'खतरे की घंटी' आदि आदि। उनको मैं अत्यन्त चाव से पढ़ता था। उनकी पुस्तकें पढ़कर मेरी उन पर वड़ी श्रद्धा हो गयी थी। वे सभा में बड़ा ओजस्वी भाषण करते थे, उनके भाषणों की वड़ी ख्याति थी। महात्मा गान्धीजी ने उन्हे हिन्दी के प्रचार हेतु दक्षिण में अपने पुत्र देवीदास गान्धी के साथ भेजा था। उन दिनों वक्ताओं में उनकी ख्याति थी। मैं उनके दर्शनों को वड़ा उत्सुक था। सहसा उनका तार पाकर हमें वड़ी प्रसन्नता हुई। हम एक दो साथियों को लेकर स्टेशन पर गये। प्रथम श्रेणी के डिब्बे में वे वैठे थे। हमने जाकर उनके पैर छुए। उन्होंने कुछ वातें पूछीं। मैंने प्रार्थना की—"महाराज! एकदिन के लिये यहाँ भी उतर पड़िये। जनता आपके दर्शनों को अत्यन्त उत्सुक है।"

उन्होंने कहा—"अव तो मैं एक काम से देहली जा रहा हूँ। मुझसे देहली में आकर मिलो।"

उन्होंने दरियागंज या कहीं अन्यत्र जो पता वताया था उस

पर जाकर मिले। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् तै हुआ कल चलेंगे। उन्होंने कहा—"खुरजा तार कर दो।"

अब खुरजा में किसे तार करूँ, परन्तु फिर भी मैंने तार करा दिया। स्टेशन पर आये साथ मे एक स्वामी ब्रह्मानद सरस्वती नाम वाले सन्यासी को ओर ले लिया। स्टेशन पर आकर प्रथम श्रेणी के दो टिकट लिये। इससे पहिले मैं कभी प्रथम श्रेणी मे बैठा ही नहीं। प्रथम श्रेणी में प्राय. अँगरेज ही चलते थे। बहुत बडे आदमी द्वितीय श्रेणी मे। नहीं तो बडे लोगो का ड्योढा ही था। उन दोनों स्वामियो को मैंने वहाँ खडे एक प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बिठा दिया। वह कहीं दूसरी ओर जाने वाला था, इजन उसे लेकर कहीं दूसरे स्थान पर चला गया। स्वामीजी उतरकर खडाऊँ खटकाते क्रुद्ध होते हुए आये—"मुझे कहाँ बिठा दिया।"

स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने बात सम्हाल ली। कह दिया "स्वामी जी ! इन्हें मालूम नहीं था।" अस्तु गाडी आयी, दोनों स्वामी प्रथम श्रेणी में, मैं तृतीय श्रेणी में बैठा। खुरजा स्टेशन पर पहुँचे तो वहाँ एक भी मनुष्य स्वागत के लिये नहीं आया। स्वामीजी मन ही मन बडे असन्तुष्ट हुए। मैं एक इक्का ले आया। अब कहते क्या, बेमन से इक्के मे बेठ गये। मैं बाजार के अपने उसी गन्दे अड्डे में उन्हें ले गया। अब स्वामीजी गरजे। भीतर भरे असन्तोष को अब उन्होंने प्रकट किया—"यहाँ बाजार मे कहाँ ले आये ? साधु बाजार मे नहीं रहता। वह तो एकान्त जङ्गल में रहता है कहीं जगल में स्थान नहीं है ?"

अब मैं बडे धर्म सकट में पडा। नहर के बबे के समीप अँगरेजा महाविद्यालय के समीप एक सेठ का स्थान था। उसने एक अच्छा स्थान दे दिया। स्वामीजी वहाँ उतरे।

मैं तो जानता नहीं था, बडे नेता क्या खाते हैं, उनके कैसे

व्यवहार करना चाहिये। मैंने पूछा—"स्वामीजी ! किसकी दाल बनावें ?"

स्वामीजी पुनः गरजे, तुम निरे भोंदू ही हो। बड़े आदमियों से कैसे व्यवहार करना चाहिये, तुम कुछ भी नहीं जानते। दो-तीन दाल बना लो दो-चार साग बना लो।"

अब मैं दो-चार साग कहाँ से लाऊँ। जैसे-तैसे दाल, रोटी, भात तथा दो-तीन साग बनवाये। दुर्भाग्य से जो घृत आया वह अच्छा नहीं था। स्वामीजी बड़े दुखी हुए। भोजन नाम मात्र को किया। फिर मैं बाजार से सेव ले आया। मैं यह भी नहीं जानता था, कि सेवों में भी उत्तम, मध्यम और अधम होते हैं। मैं समझता था, सेव-सेव सब एक से ही। मैं सस्ते से सस्ते सेव ले आया। सेवों को देखकर स्वामीजी बोले—"कैसे मूर्खों से पाला पड़ा है।" उन्होंने सेव फेंक दिये और अपने सामान में से बड़े-बड़े लाल-लाल सुन्दर सेव निकाले। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने फिर बात सम्हाल ली, बोले—"स्वामीजी ! अच्छे सेव देहली में ही मिलते हैं, यह तो छोटा-सा स्थान है।"

सायंकाल के समय हम कहीं से एक बग्गी माँग लाये। बाजे वालों को ले आये, स्वामीजी की शोभायात्रा निकालने। हमने आकर प्रार्थना की—"महाराज ! शोभायात्रा में पधारें।"

आप बोले—"मैं ऐसे खेलों में नहीं जाता। स्वामी ब्रह्मानन्द को ले जाओ।"

स्वामी ब्रह्मानन्दजी पहिले नाभाराज्य में जज थे। असहयोग आन्दोलन में छोड़कर चले आये। उर्दू जानते थे। पंजाबी थे, उनकी बातों में, बोली में, व्यवहार में, नारीपन अधिक था। बोले—"नहीं, स्वामीजी ! आप के ही लिये इन लोगों ने किया है, आप ही पधारें।"

स्वामीजी पुनः गरजे—"मैं कदापि नहीं जाऊँगा।"

हम लोग अपना-सा मुख लेकर लौट आये। सायंकाल में मंडी में सभा रखी। व्याख्यान सुनने सैकड़ों पुरुष एकत्रित हुए। हम स्वामीजी को ले गये। सभा के आरम्भ में एक सभापति चुनने की प्रथा है। एक बड़े ही सज्जन वहरे मुसलमान भाई थे। मैंने खड़े होकर कहा—"आज की सभा के सभापति मौलाना साहब बनाये जायँ।"

मेरे प्रस्ताव पर बूढ़े मौलाना साहब उठकर सभापति के आसन की ओर जाना चाहते ही थे, तब तक स्वामीजी गरजे—"साधुओं की सभा का कोई सभापति नहीं होता। साधु लोग व्याख्यान नहीं देते, उपदेश करते हैं।"

इतना सुनते ही बूढ़े मौलाना तुरन्त ही शीघ्रता से पुनः नीचे ही अपने स्थान पर जा बैठे। अब पालथी मारकर मेज पर बैठ कर स्वामीजी का उपदेश आरम्भ हुआ। उपदेश क्या था, मेरी समस्त त्रुटियों की गाथा थी—"यहाँ के लोग बड़े मूर्ख हैं, जानते नहीं बड़े लोगों का कैसे स्वागत सत्कार किया जाता है। हमने सुना था, खुरजे का घी बहुत प्रसिद्ध है। मुझे जो दोपहर खाने को घृत दिया गया वह महा रद्दी था। मेरा चित्त अभी तक मिचला रहा है। इस प्रकार उन्होंने अपने सभी हृदयोद्गार व्यक्त कर दिये। सभा विसर्जित हुई। मैं इतना डर गया था, कि उनसे बातें करने का साहस ही नहीं होता। डरते डरते मैंने पूछा—"स्वामीजी! रात्रि में रसोई क्या बनावें?"

तब वे बोले—"शाम को मैं कुछ नहीं खाता। केवल दूध ले आना।"

हम हलवाई के यहाँ से दूध ले गये। हलवाई अच्छा दूध सुन्दर दिया, स्वामीजी कुछ भी न बोले।

प्रातःकाल किसी की बग्गी माँगकर स्वामीजी को पहुँचाने स्टेशन गये। प्रथम श्रेणी के प्रतीक्षालय में काष्ठ शौचालय (कमोड) पाकर, स्नान पात्र (टब) पाकर मेज कुरसी आदि से सजा स्थान पाकर, स्वामीजी का चित्त प्रसन्न हुआ। सर्वथा नग्न होकर स्नान पात्र (टब) में स्नान किया। साबुन से मल मलकर नहाये। अँगरेजी वातावरण में उनका मस्तिष्क संतुलित हुआ। नहा धो कर आराम कुरसी पर लेट गये।

मैंने हाथ जोड़कर नम्रता के साथ कहा—"स्वामीजी! अप राध तो हमसे बहुत हुए हैं, कृपा करके बालक जानकर क्षमा कर देंगे।"

तब स्वामीजी प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"देखो, बच्चे! हम अप्रसन्न नहीं हैं। तुम्हे उपदेश देने को हमने ये बातें कही थी। हम तुम्हें आशीर्वाद देते हैं। तुम्हारा कल्याण हो।"

अब मेरे प्राणों में प्राण आये। चलो स्वामीजी प्रसन्न तो हुए। तब उन्हें जैसे तैसे विदा किया। मैं समझता था जैसे हमारी प्रत्येक बात से नेहरू जी प्रसन्न रहें वैसे ये भी रहेंगे, किन्तु यहाँ तो उससे भिन्न ही बात रही। पीछे में समझा सभी अपने अपने स्वभाव से विवश हैं। हम दूसरों की तो आलोचना करते हैं, किन्तु जब हम स्वयं ऐसी अवस्था में आ जाते हैं, तो हमें भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ता है। उस समय तो हम अपनी परिस्थिति के अनुसार जानते नहीं थे। आज मेरे साथ कोई वैसा व्यवहार करे जैसा मैंने स्वामी सत्यदेव जी के साथ किया था, तो मैं शिष्टाचारवश ऊपर से क्रोध भले ही व्यक्त न करूँ, किन्तु भीतर ही-भीतर मैं रुष्ट अवश्य हूँगा। उस समय के और अब के मेरे रहन सहन व्यवहार में बहुत अन्तर हो गया है। इसके अनन्तर तो जेल में सैकड़ों बड़े बड़े नेताओं के ही

बीच में रहना हुआ। वहाँ बड़े-बड़े अनुभव हुए। भगवान् ने सर्वथा अयोग्य होने पर भी इतने बड़े लोगों में ले जाकर पटक दिया कि एक साथ ही अनेकों अनुभव हुए।

मेरे प्रायः सभी साथी पकड़े गये। मैं ही एक रह गया। वह मेरे परगना हाकिम की ब्रह्मण्यता के कारण। उनका नाम स्यात् बाबू राजनारायणजी था। वे मुझे पकड़ना नहीं चाहते थे। मैं जेल जाने पर ही तुला हुआ था। अन्त में विवश होकर उन्हें मुझे पकड़ना ही पड़ा। मैंने पीछे सुना था, मुझे दण्ड देने के अनन्तर उन्होंने सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे दिया था और राजा अवागढ के यहाँ दानाध्यक्ष की नौकरी कर ली थी। मैं किस प्रकार पकड़ा गया और जेलों के कैसे कैसे अनुभव हुए, ये सब बातें आगे के संस्मरणों में आवेंगी, आज तो बस, यहीं समाप्त।

छप्पय

निज स्वभाववश बरतत सब ही जगके प्रानी।
करें करम हैं विवश जीव ज्ञानी अज्ञानी॥
परस्वभाव अरु करम करें निन्दा जे मनतैं।
स्वार्थभ्रष्ट ते होहिं असतमें भाव करनतैं॥
प्रकृतिपुरुष संयोग तैं, बरतें सबहिं स्वभाववश।
नहिं निन्दा इस्तुति करै, सोचे सबई हैं विवश॥
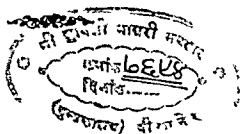
विविध उपासनाएँ

[८४]

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति। तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद् ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः।*

(तै० उ० भृ० व० १० मन्त्र०)

छप्पय

ताहि प्रतिष्ठा मानि उपासन साधक करिहैं।
होंहिं प्रतिष्ठावान मानि महः जे जन भजिहैं॥
ते है जायँ महान् मानि मन करहिँ उपासन।
मानवान् ते बनें नमः करि तिहि राखें मन॥
सकल कामना तिनिन में, ब्रह्मभाव तें जे भजें।
ब्रह्मवान् है जायँ वे, जीव भाव कूँ ते तजें॥

---

* वह ब्रह्म प्रतिष्ठा है। इस भावना से जो उसकी उपासना करता है, वह प्रतिष्ठावान् हो जाता है। जो उसे महान् समझकर उपासना करता है, वह महान् हो जाता है। जो मन मानकर उसकी उपासना करता है, वह मानवान् होता है। जो नम. भाव से उपासते हैं उसके लिये सभी

एक महात्मा थे। वे सबको 'भगवन्' 'भगवन्' कहकर सम्बोधित किया करते थे। वे 'भगवन् स्वामी' के नाम से विख्यात हो गये। एक महात्मा 'हरि हरि' कहा करते थे, सब लोग उन्हें 'हरिबाबा' 'हरिबाबा' कहकर पुकारने लगे। ब्रह्म नाम और रूप से रहित है, वह गुणों से भी रहित निर्गुण है, फिर भी जो उन्हें जिस नाम से पुकारेगा, वह उसी नाम वाला हो जायगा, वह उसके जिस रूप का चिन्तन करेगा, उसी रूप का वह हो जायगा, वह जिस गुण वाला मानकर उसकी उपासना करेगा, वह उसी गुण विशिष्ट बन जायगा। संसार में भृङ्गी कीट न्याय प्रसिद्ध ही है। भृङ्गी कीड़े को पकड़कर अपने घर में बन्द कर देता है और उसके सामने गुनगुनाता रहता है। निरन्तर उसकी गुनगुनाहट सुनते सुनते कीट उसी भृङ्गी के आकार प्रकार, रूप रंग और वाणी वाला बन जाता है। जो जिस भाव से जिस गुण विशिष्ट की उपासना करेगा, वह उसी भाव वाला, उसी गुण से युक्त बन जायगा।

योग के सम्बन्ध की एक कथा आती है। सद्गुरु ने पूछा—"तुम्हें सबसे अधिक प्रिय कौन है ?"

शिष्य ने कहा—"मुझे सबसे अधिक प्यारा अपनी भैंस का पड़रा लगता है।"

गुरु ने कहा—"इस गुफा में बैठकर उस भैंस के बच्चे पड़वे का ही ध्यान करो।"

भोग पदार्थ नत हो जाते हैं। जो ब्रह्मभाव से उपासना करता है, वह ब्रह्मवान् हो जाता है। जो उसे परिमर यम—मानकर उपासना करते हैं, उसके द्वेषी शत्रु मर जाते हैं और उसके सब प्रकार से अप्रिय करने शत्रु हैं, अनिष्ट करने वाले चाचा आदि के पुत्र हैं वे भी मर जाते

वह आदमी गुफा में बैठकर पड़े का ही ध्यान करने लगा। कुछ दिनों के पश्चात् उसके गुरु पुनः आये और उन्होंने उनका नाम लेकर पुकारा और कहा—"तुम बाहर निकल आओ।"

उसने कहा—"गुरुजी! कैसे निकल आऊँ? मेरे तो बड़े-बड़े सींग हो गये हैं।"

भैंस के पड़े का ध्यान करते-करते वह तदाकार अपने को अनुभव करने लगा। हमने एक साधक को देखा था। वह हनुमान् जी का भक्त था। उसकी आकृति प्रकृति सब बन्दर जैसी हो गई थी। वृक्षों पर ही वह रहता था और एक वृक्ष से कूदकर दूसरे वृक्ष पर बन्दरों की भाँति छलांग मारकर चला जाता।

एक लड़के को भेड़िया उठा ले गया था। भेड़ियों के साथ रह कर उनकी सगति से-उनके ध्यान सहवास से वह सर्वथा भेड़िया ही बन गया था। दोनों हाथ पैरों से भेड़ियों की भाँति चलता, भेड़ियों की ही भाँति बोलता था, उन्हीं की तरह कच्चा मांस खाता था। उसकी समस्त आकृति प्रकृति तथा चेष्टायें भेड़ियों जैसी हो गयीं थीं। उसे लोग जिस किसी भाँति पकड़कर लखनऊ लाये। बहुत चेष्टायें की वह मनुष्यों की भाँति खाने पीने लगे, बोलने लगे, किन्तु उसमे पूरी सफलता नहीं हुई। थोड़े दिनों में वह मर गया। इससे सिद्ध होता है, ध्यान का, चिन्तन का, सहवास का, उपासना का बड़ा भारी प्रभाव होता है, जो जैसी उपासना करता है, वह वैसा ही बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् भाव के भूखे हैं। भगवान् की दुःखों को दूर करने की भावना से उपासना करो, चाहे ब्रह्म की जिज्ञासा की इच्छा से उपासना करो अथवा धन की इच्छा से उपासना करो और चाहें ब्रह्मज्ञान होने के अनन्तर भक्ति से उपासना करो, भगवान् सकाम उपासकों को तथा निष्काम भाव

से उपासना करने वाले उपासकों को उनकी भावना के अनुसार ही फल देते हैं। वे सकाम भाव से उपासना करने वालों से रुष्ट नहीं होते। कारण कि कामनाओं को उत्पन्न करने वाले भी तो वे ही हैं। साधकों की बुद्धिमत्ता इसी में है, कि वे अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये इन संसारी धन दुर्मद कामी लोगों की शरण में न जाकर, समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाले प्रभु की ही शरण में जायँ। उनकी शरण मे जाने से समस्त कामनायें पूर्ण हो सकती है।

पूर्व जन्मों के संस्कारवश पुरुषों के हृदयों में भिन्न भिन्न प्रकार की कामनायें रहा करती हैं। वे कामनायें संसारी कामियों के द्वारा कभी भी पूरी नहीं हो सकतीं, वे तो पूर्ण होंगी समस्त कामनाओं के स्रोत श्यामसुन्दर की शरण में जाने से ही। अब जैसे किसी की कामना है, कि मेरी प्रतिष्ठा बढ़े। संसार में मैं परम प्रतिष्ठित समझा जाऊँ, तो उसे अपने उपास्यदेव की अधिक से अधिक प्रतिष्ठा करनी चाहिये। उनकी राजोपचार से परम प्रतिष्ठा पूर्वक प्रेम से पूजा अर्चा करनी चाहिये, उनका महाराजाधिराजों से भी बढकर सम्मान करना चाहिये। पर्वो पर अत्यन्त धूमधाम से शोभा यात्रा निकालनी चाहिये। इन सम्प्रदाय प्रवर्तक आद्याचार्यों ने अपने इष्टदेव की अत्यधिक प्रतिष्ठा की थी, इसी लिये वे जगत् मे आज तक परम प्रतिष्ठित माने जाते हैं। इसके विपरीत जो अभागे भगवान् की प्रतिष्ठा न करके अपने शरीर की ही प्रतिष्ठा कराते हैं, अपने को ही पूज्य मानकर अपनी प्रतिष्ठा पूजा कराते हैं, पीछे उनका कोई नाम लेवा पानी देवा भी नहीं रहता। अतः जिसे प्रतिष्ठावान् बनना हो, वह अपने इष्टदेव की ही प्रतिष्ठा करे। उसी की प्रतिष्ठा रूप से उपासन करने पर प्रतिष्ठा वाला हो जाता है।

जिसे महान् बनने की इच्छा हो वह भगवान् की महः रूप में–हमारे इष्टदेव सबसे महान् हैं–इस भावना से उपासना करे पर वह साधक महान् हो जाता है। इसी प्रकार अपने इष्टदेव को मन समझकर उपासना करे तो वह मननशील हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"इष्टदेव की मन रूप से उपासना कैसे करे ?"

सूतजी ने कहा—"मन से यहा अभिप्राय अन्तःकरण से है। अंतःकरण की चार वृत्तियाँ हैं, उन चार वृत्तियों के चार ही विषय हैं। जैसे मन, बुद्धि अहङ्कार और चित्त ये तो चार वृत्ति हैं। मन का विषय है संशय, यह करें या न करें। इसके करने से लाभ है या हानि, यह उचित है या अनुचित इस प्रकार मनन करने की वृत्ति को मन कहते हैं। बुद्धि का विषय है, निश्चय ऐसा करना ही चाहिये ऐसा निश्चय जिस वृत्ति से हो, अन्तःकरण की उसी वृत्ति का नाम बुद्धि है। अहङ्कार वृत्ति का विषय गर्व है। मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ, ऐसा कर डालूँगा आदि। चित्त नामक जो अंतःकरण की वृत्ति है उसका स्मरण है भूली हुई बात का पुनः याद हो जाना। अन्तःकरण से सावधानी से किया हुआ निर्णय महान् होता है। जो अन्तःकरण की बातों को दबाता नहीं, विचारपूर्वक मनन पूर्वक कार्य करता है, वही महान होता है, क्योंकि मन ही मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है। मन विषयों का संग बिना सोचे समझे करने लगेगा, तो बद्ध हो जायगा। मननपूर्वक विचारपूर्वक निर्विषयक बनकर कार्य करेगा, तो मुक्ति का भागी बनेगा। इसलिये मन रूप से उपासना यही है, कि प्रत्येक कार्य को ऊहापोह करके, मननपूर्वक–विचारपूर्वक जो करता है, मन में इष्टदेव का ध्यान करके तन्मय होकर जो भगवत् बुद्धि से

कार्य करता है वह इष्ट को मनस्वी मानता है। ऐसे साधक को मनन करने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है।

जो अपने इष्ट को नम, इस भावना से उपासना करता है। उन्हें नमस्कार योग्य समझता है, निरन्तर दण्डवत ही करता रहता है, उसके सम्मुख समस्त कामनायें करबद्ध खडी रहती हैं। वह जगत् में नमस्कारार्ह बन जाता है। सभी लोग उसे नमस्कार करने लगते हैं। समस्त जीव ही उनके सम्मुख झुक जाते हैं। समस्त कामनायें उसके सम्मुख नतमस्तक होकर आज्ञा हेतु खडी रहती हैं। जो अपने इष्ट को नमस्कार करेगा, उसके सम्मुख सभी नत हो जायेंगे।

जो अपने इष्ट को ब्रह्मभाव से उपासना करता है। ब्रह्म रूप में अर्चा पूजा करता है, वह ब्रह्मवान् बन जाता है, अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है। जो अपने इष्टदेव को परिमर भाव मृत्यु अथवा यम रूप से उपासना करता है, अपने इष्ट को सबको मारने के लिये नियत किया हुआ अधिकारी–मृत्यु–मानकर उनकी पूजा करता है, तो उस साधक से द्वेष रखने वाले शत्रु मर जाते हैं और उसका अनिष्ट चाहने वाले जो अप्रिय परिवार वाले चाचा आदि ये भ्रातृव्य हैं वे भी मर जाते हैं। इस प्रकार जो उस परमात्मा की जिस भावना से उपासना करता है, वह उसी भाव से भावान्वित होकर वैसा ही बन जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह मैंने आपसे विविध भावना से की जाने वाली उपासना का फल सहित वर्णन किया। अब मैं आगे सर्वत्र एक ही परब्रह्म परमात्मा परिपूर्ण हैं, उन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उनकी प्राप्ति का क्या फल है? इस विषय को बताऊँगा। आशा है, आप सब इस उपदेश को सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

इष्टदेव निज मानि भजें तिनि 'परिमर' जानें।
सब कूँ मारन हेतु तिन्हें अधिकारी मानें॥
तिनिके द्वेषी शत्रु तुरत सबरे मरि जावें।
जे अनिष्ट तिहि करें अप्रिय बान्धव नसि जावें॥
विविध भावना तैं पुरुष, इष्टदेव निज भजिहैं।
वैसे ही बनि जायँ ते, जीव धरम कूँ तजिहैं॥

—०—

सर्वत्र सब में सर्वान्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा परिपूर्ण हैं और यह जगत् उनकी लीला का चिद् विलास है, इस भावना से जो परिपूर्ण परमात्मा की उपासना करते हैं, वे पंच कोषों का अतिक्रमण करके आनन्द मग्न हो जाते हैं। उन्हें सर्वत्र आनन्द की ही उपलब्धि होने लगती है। वे आनन्द में निमग्न होकर नाचने और गाने लगते हैं। जब आनंद हृदय में नहीं समाता, आह्लाद सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, तो उसी आनन्दोल्लास में साधक गायन करने लगता है, थिरकने लगता है, इस प्रकार वह अपने आनद की अभिव्यक्ति करने लगता है। जो सकाम उपासक हों उन्हें अपनी-अपनी कामनाओं के अनुसार उन कामनाओं को देने वाले देवताओं की उपासना करनी चाहिये। किन्तु जो निष्काम साधक हैं और तुरन्त सद्योमुक्ति नहीं चाहते, वे इन स्थूल सूक्ष्म कोशों को पार कर सर्वोत्तम लोकों में इच्छानुसार विचरण करते हैं, वे आनद सागर में गोते लगाते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जो परब्रह्म परमात्मा की इस भावना से उपासना करते हैं, कि वे परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, वे इस लोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त की सभी वस्तुओं में एक ही परमात्मा का दर्शन करते हैं। जो हिरण्मय पुरुष आदित्य में-सूर्य में-है, वही पुरुष में भी। अन्तर्यामी रूप से दोनों ही वास्तव

प्राप्त होकर तथा इस प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा, विज्ञानमय आत्मा, और आनन्दमय आत्मा को क्रमशः प्राप्त होकर अपनी कामनानुसार अन्न प्राप्त करने वाला, अपनी इच्छानुसार रूप प्राप्त करने वाला और इन सभी दिव्य लोकों में विचरण करते हुए अत्यन्त हर्ष और आश्चर्य के सहित सामवेद का गायन करता रहता है। जिस सामगान को वह भाग्यशाली करता है उसे आगे कहा गया है।

में एक हैं। जैसे प्रकाश तो एक ही है, उसके ऊपर जैसा काँच लगा दोगे, प्रकाश उसी रंग का दिखायी देने लगेगा। जैसे आकाश तो एक ही है, घड़े में होने से उसकी घटाकाश संज्ञा हो जाती है। मठ में आ जाने से मठाकाश कहलाता है। घटमठ का व्यवधान हटने से वह महाकाश में मिल जाता है। घट में मठ में तथा दिशाओं में व्याप्त आकाश एक ही है, पात्रभेद से पृथक् पृथक्-सा दिखायी देता है। इसी प्रकार आदित्य में वर्तमान आत्मा और पुरुष देह में व्याप्त आत्मा एक ही है। दोनों में अणुमात्र का भी भेद भाव नहीं है। जो इस रहस्य को केवल वाणी से नहीं–तत्त्व से जानता है, वह इस स्थूल देह को त्यागकर जो अन्न रसमय है–जिसे भ्रान्तिवश अन्नपुरुष आत्मा मानते हैं। इसका अतिक्रमण करके प्राणमय आत्मा को, जो वायु विकारात्मक है, उसे प्राप्त करता है। यद्यपि प्राणमयकोष अन्नमयकोष की अपेक्षा सूक्ष्म है, फिर भी वह उससे भी सूक्ष्म संशयात्मक वृत्ति वाले अन्तःकरण रूप मनोमय आत्मा को प्राप्त होता है। फिर उससे भी सूक्ष्म निश्चयात्मक वृत्ति वाले अन्तःकरण रूप विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है। तदनतर उससे भी सूक्ष्म दिव्य निद्रात्मक सुखानुभव स्वरूप आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है। फिर उस आनन्दमय आत्मा का भी अतिक्रमण करके इच्छानुसार रूप रखने वाला हो जाता है। वह जैसा चाहे वैसा रूप रख सकता है, जिस लोक में चाहे उस लोक में जा सकता है। भू, भुव, स्वः यह जन, तप तथा सत्यलोक जिस लोक में चाहे जा सकता है। जैसा अन्न खाना चाहे वैसा अन्न खा सकता है। स्वर्ग का अन्न अमृत है। महर्षि लोक का अन्न यज्ञ भाग है, जनलोक का अन्न ब्रह्मचर्य है, तपलोक का अन्न तपस्या है। सत्यलोक का अन्न ज्ञान है। वह बहु अन्न वाला होकर इच्छानुसार

लोकों में विचरण कर सकता है। सर्वत्र उसकी अव्याहत गति हो जाती है। उसके आनन्द का वारापार नहीं। उसकी बुद्धि समत्व में स्थिर हो जाती है अतः आनन्द मे निमग्न होकर गाने लगता है—"हा इ वु हा उवु हाऽवु।"

शौनकजी ने कहा—"हा इ वु का अर्थ क्या हुआ ?"

सूतजी ने कहा—"यह सामवेद का गायन है। 'हावु' शब्द आश्चर्य वाचक है। परम विस्मय के साथ कह रहा है अहा! मैं क्या था क्या हो गया ?"

शौनकजी ने पूछा—"तीन बार कहने का क्या अभिप्राय है ?"

सूतजी ने कहा—"आनन्दातिरेक में विस्मय की पराकाष्ठा दिखाने को तीन वार कहा गया महान् आश्चर्य है। अत्यन्त ही आश्चर्य है !! निरतिशय आश्चर्य है।"

शौनकजी ने कहा—"क्या आश्चर्य की बात है, क्यों विस्मयाविष्ट हो रहे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"वह कहता है, अहमन्नमहमन्नमहमन्नम। मैं अन्न हूँ! मैं अन्न हूँ !! मैं ही अन्न हूँ !!!"

शौनकजी ने पूछा—"मैं अन्न हूँ कहने का तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"अर्थात् आत्मा परमात्मा और अन्न की तादात्म्यता दिखाने को आनंद मे भर कर कह रहा है। मैं ही अन्न हूँ और मैं ही अन्न को खाने वाला हूँ। अहमन्नाः दो ३ (तीन वार) अर्थात् अन्न भी मैं हूँ और अन्न का भोक्ता भी मैं ही हूँ। यहाँ सबकी एकात्मता दिखाने को सबको परमाश्चर्य के साथ तीन-तीन वार कह रहे हैं। फिर कहते हैं—"अहं श्लोककृत् (तीन वार) इन दोनों कार्य कारण रूप संघात का कर्ता चेतनावान्-संयोग कराने वाला-भी मैं ही हूँ। और मैं ही इस ऋत

रूप प्रत्यक्ष दीखने वाले जगत् की अपेक्षा से प्रथमजा (पहिले उत्पन्न होने वाला) हिरण्यगर्भ हूँ। (अहमस्मि प्रथमजा ऋता-इस्य)।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रथमजा कहने से क्या तात्पर्य ?"

सूतजी ने कहा—"वेद कहता है, इस सम्पूर्ण जगत से पहिले हिरण्यगर्भ ही था (हिरण्यगर्भः समवर्ततामे) वह हिरण्यगर्भ मैं ही हूँ। अपनी जगत् और आत्मा की एकतानता प्रदर्शित कर रहे हैं।" फिर कहते हैं—"मैं ही देवताओं से भी प्रथम विद्यमान अमृत की नाभि हूँ। (पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना इभायि।) अर्थात् देवताओं से प्रथम उत्पन्न होने वाला ब्रह्मा भी मैं ही हूँ और अमृत के स्रोत परब्रह्म परमात्मा भी मैं ही हूँ। कहने का भाव यह कि सर्व रूपों में मैं ही आत्मभाव से व्याप्त हूँ। सब मेरा ही स्वरूप है। जो मुझे अन्न देता है, वह इस कार्य से मेरी ही रक्षा करता है (यो मा ददाति स इ देव मा इ वाः)।"

शौनकजी ने कहा—"अन्न देने वाला मेरी ही रक्षा करता है, इसका क्या तात्पर्य है ?"

सूतजी ने कहा—"यह व्यवहार की बात बताते हैं। अर्थात् जो अतिथि अभ्यागत को अन्न देता है, मानो अतिथिरूप में वह मुझ ही परमात्मा को देता है। मेरी ही रक्षा करता है मानो मेरी ही पूजा प्रतिष्ठा करता है। क्योंकि अतिथि रूप मे भी मैं ही हूँ। अतिथि मेरा ही स्वरूप है। इसके विपरीत अन्न खाने वाले को मैं ही निगल जाता हूँ। (अहमन्नमन्नमदन्तमा इ द्मि)।"

शौनकजी ने पूछा- "अन्न खाने वाले को मैं निगल जाता हूँ, इसका क्या तात्पर्य है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जो केवल अपने ही लिये अन्न पकाता है। देवता, पितर, अतिथि को दिये बिना तथा बिना

शान्ति पाठ—

छप्पय

मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, गुरु, विष्णु-उरुक्रम ।
करें सबहिँ कल्याण करत विनती सबकी हम ॥
नमस्कार है ब्रह्म-देवकूँ आत्म-भूप जो ।
करें नमस्ते वायुदेवकूँ ब्रह्मरूप जो ॥
तुमहिँ एक प्रत्यक्ष हो, कहूँ सत्य ऋत तुम विभो ।
श्रोता वक्ता की सतत, रक्षा करि पालो प्रभो ॥

ऐतरेय उपनिषद्—शान्ति पाठ

[८६]

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठित-माविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥❀

(ऐ० उ० शा० पा०)

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

छप्पय

प्रणव! वाक् मम होहि प्रतिष्ठित मन के भीतर।
मन मेरो ह्वै जाइ प्रतिष्ठित वाणी अन्दर॥
परमेश्वर! मम हेतु प्रकट तुम ह्व ह्वै जाओ।
मन वानी! मम हेतु ज्ञान वेदनि को लाओ॥
सुने वेद मम तजहिँ नहिँ, पढ़िकेँ निशि दिन सम करूँ।
कहूँ श्रेष्ठ मुख तेँ वचन, सदा सत्य भाषन करूँ॥

❀—मेरी वाणी मन मे प्रतिष्ठि हो, मेरा मन वाणी मे स्थित हो जाय। हे प्रकाशमय प्रभो! तुम मेरे निमित्त प्रकट हो। मन वाणी तुम दोनो मेरे लिये वेद को मर्जन करने वाले बनो। मेरा सुना वेद मुझे छोड़े नहीं। अध्ययन के लिये मैं दिन रात्रि को एक कर दूं। मैं ऋत

अब तैत्तिरीय उपनिषद् के अनन्तर ऐत्तरेय उपनिषद् के अर्थ को कहेंगे। ऋग्वेद मे जो ऐतरेयारण्यक म पॉच आरण्यक हैं। उन पॉच आरण्यको में सब मिलाकर १८ अध्याय हैं। उन पॉच आरण्यको मे से जो दूसरा आरण्यक है उसके चौथे अध्याय से छठें अध्याय पर्यन्त जो तीन अध्याय हैं ये ही तीन अध्याय 'ऐतरेय उपनिषद्' के नाम से विख्यात हैं। यह उपनिषद् एतरेय ऋषि द्वारा प्रवर्तित है। ऐतरेय महर्षि परम भगवद्भक्त ज्ञानी तथा विष्णु उपासक थे। महामुनि ऐतरेय की कथा स्कन्द पुराण कुमारि खण्ड मे है। हारीत मुनि के वंश मे माण्डूकि नाम के परम विख्यात महर्षि हुए हैं, जिनकी माण्डूक्य उपनिषद् है। उन्हीं माण्डूकि महर्षि की पत्नी का नाम 'इतरा' था। इन्हीं भगवती इतरा के गर्भ से एक परम भाग्यशाली पुत्र हुआ। माता के ही नाम से उसका नाम 'ऐतरेय' प्रसिद्ध हुआ। प्रायः पुत्र तो पिता के नाम से प्रसिद्ध होते हैं, किन्तु जो मातायें पति द्वारा परित्यक्ता होती हैं, उनके पुत्र माता के नाम से प्रसिद्ध होते हैं जैसे जाबाली महर्षि। इनकी माता का नाम जाबाला था। गुरु ने जब इनका गोत्र पूछा—तो उन्होंने अपनी माता से जाकर पूछा। माता ने यही कहा—"मैं तो सेवा कार्य मे सदा निरत रहती थी। पति का नाम गोत्र तो मैं पूछ नहीं सकी।" तब गुरु ने माता के नाम से ही इनका नाम जाबाली रख दिया। ऐतरेय मुनि की माता 'इतरा' को भी उनके पति माण्डूकि ने परित्याग कर दिया था।

बात यह थी, कि जब इतरा के गर्भ से पुत्र उत्पन्न हुआ, तो वह न तो किसी की बात सुनता ही था, न किसी से कुछ

तथा सत्य ही बोलू। वे परमात्मा मेरी रक्षा करें। वे उपदेश देने वाले आचार्य की रक्षा करें। मेरी रक्षा करें और मेरे आचार्य की रक्षा करें। ॐ शान्ति ! शान्तिः !! शान्ति !!!

बोलता ही था। वह निरन्तर द्वादशाक्षर मन्त्र का मानसिक जप ही करता रहता था। पिता ने उसे पढ़ाने की बहुत चेष्टा की, किन्तु उसने एक अक्षर भी पढ़कर नहीं दिया। तब पिता उससे निराश हो गये। इतरा के फिर कोई और पुत्र पैदा नहीं हुआ। तब पिता ने सोचा—"मेरा पुत्र गूंगा तथा बहरा है। पढ़ता लिखता नहीं। ऐसे पुत्र से वंश कैसे चलेगा ? पितरों को पिण्ड तथा उदक कौन देगा ? गूंगे बहरे पुत्र से तो पुत्र न होना ही अच्छा है। मेरी वंश परम्परा का नाश न हो, पितरों की पिण्डोदक क्रिया लुप्त न हो, यह सोचकर माण्डूकि मुनि ने पिंगा नामक एक दूसरी मुनि पुत्री से विवाह कर लिया। उसके गर्भ से चार पुत्र उत्पन्न हुए। वे सबके सब बड़े ही बुद्धिमान्, विद्वान् तथा वेदवेदाङ्गों के पारदर्शी थे। समाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।"

इतरा ने देखा, "मेरी सौत के तो चार-चार पुत्र हो गये, वे सबके सब वेदवेदाङ्गों में पारङ्गत हैं। मेरे एक ही पुत्र है, वह भी बहरा-गूंगा है, कुछ पढ़ा लिखा भी नहीं। ऐसे पुत्र से तो मैं वन्ध्या ही रहती तो अच्छा था। इस अपढ़ पुत्र के कारण ही मैं पति द्वारा तिरस्कृता बन गयी। मेरे जीवन को धिक्कार है।" ऐसा विचार कर वह पुत्र को गोदी में लेकर रुदन करने लगी, और कहने लगी—"मैं बड़ी अभागिनी हूँ, मेरा निर्वाह कैसे होगा, पति ने मेरा परित्याग कर दिया है, यह पुत्र मूर्ख जड़ तथा गूंगा है। अब मैं मही सागर संगम में जाकर डूबकर मर जाऊँगी। मेरे जीने से क्या लाभ ? बेटा। अब तेरे मन में जो आवे सो करना। तू महा मौनी बनकर भजन करते रहना।"

माता को दुखी देखकर ऐतरेय जी को दया आ गयी। वे माता की बात सुनकर ठठाका मारकर हँस पड़े। माता ने आज सर्वप्रथम अपने पुत्र को इस प्रकार हँसते हुए देखा। फिर वे

आँख बंद करके दो घड़ी तक भगवान् का ध्यान करते रहे। ध्यान के अनन्तर उन्होंने नेत्र खोले और माता के चरणों में प्रणाम किया। तदनन्तर उन्होंने माता को उपदेश देना आरम्भ किया। जैसे भगवान् कपिल मुनि ने अपनी माता देवहूति को उपदेश दिया था, उसी प्रकार ऐतरेय मुनि ने भी अपनी माता इतरा को उपदेश दिया। वह उपदेश क्या था, समस्त वेद शास्त्रों का निचोड़ था, समस्त ज्ञान का सारातिसार था। उन्होंने माता से कहा— "माँ! तुम अज्ञान अन्धकार मे भटक रही हो, अज्ञान को ही ज्ञान माने बैठी हो। यह संसार मिथ्या है। शरीर मे ममता तो मूर्ख मनुष्य करते हैं। शरीर मलायतन है। यह अशुद्ध तथा नाशवान् है। यह अशुद्ध घर है, जीव इस घर का गृही है। त्रिगुणमयी प्रकृति इसकी पत्नी है। क्रोध, अहंकार, काम, ईर्ष्या, लोभ इसकी सन्तानें हैं। इस घर के नौ द्वारों से निरन्तर मल बहता रहता है। इस शरीर को शुद्ध करने को जल, मिट्टी, तैल, फुलेल, सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग करते हैं, किन्तु कोयले को कितना भी धोओ, उसकी कालिख नहीं छूटती ऐसे ही यह नरशरीर से मल से परिपूर्ण शरीर शुद्ध नहीं होता अतः अन्तःकरण की शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये।"

माँ ने पूछा—"अन्तःकरण कैसे शुद्ध होगा ?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! इस वाह्य मृत्तिका जल से अन्तःकरण शुद्ध नहीं होने का। इसके लिये ज्ञान रूपी निर्मल जल और वैराग्य रूपी मृत्तिका की आवश्यकता है। तभी अन्तःकरण की शुद्धि होगी। इस शरीर की शुद्धि संभव नहीं, क्योंकि इसमें मल-ही-मल भरा है, केले के ऊपर की त्वचा को निकाल दो तो उसमें केवल पत्ते-ही-पत्ते मिलेंगे। ऐसे ही इस शरीर की त्वचा को पृथक् कर दो तो इसके भीतर मांस, रक्त,

कफ, विष्ठा, मूत्र, खखार, नेत्र मल, कान का मल, दाँतों का मल, जिह्वा का मल सर्वत्र अशुद्ध मल-ही-मल भरा है। ऐसे शरीर में अनुराग ममता करना महामूर्खता है। जो शरीर की तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं में ममता तथा अहंता को त्यागता है वही संसार बन्धन से छूट सकता है। अहंता ममता ही प्राणियों को संसार बन्धन में बाँधे हुए है।"

माँ ने पूछा—"संसार बन्धन में बँधे रहने पर क्या कष्ट होता है ?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! संसार में तो कष्ट-ही-कष्ट है, गर्भ में आने का कष्ट, गर्भ में रहने का कष्ट, गर्भ से बाहर आने में कष्ट, ये सब कष्ट महान् हैं। गर्भ में जीव को पूर्व जन्मों की स्मृति होती है, बाहर की वायु लगते ही वह सब भूल जाता है। और इस हाड़ मांस के बने मल मूत्र के थैले में पुनः अत्यधिक अनुराग करने लगता है। इस शरीर के ही लिये घोर पाप करता है। अपने को ही सब कुछ समझने लगता है। शरीर व्याधियों का मन्दिर है। वात, पित्त और कफ की विषमता से ही असंख्यों व्याधियाँ होती हैं। व्याधियों में सिसकता ही हुआ प्राणी मर जाता है। १०० वर्ष तक तो कोई विरला ही जीता है, नहीं तो प्रायः सभी अकाल में ही काल कवलित हो जाते हैं।"

माँ ने कहा—"मृत्यु हो जाने पर तो दुःखों से छुटकारा हो ही जाता होगा ?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! छुटकारा कहाँ है ? कर्मानुसार सहस्रों योनियों में जन्म लेना पड़ता है, उन सब योनियों में नाना क्लेशों को यह जीव सहता रहता है। एक शरीर से दूसरे और दूसरे से तीसरे में ऐसे निरन्तर भटकता रहता है।"

संसार में सब से बड़ा दुःख तो याचना है। जब प्राणी

-दूसरे से माँगने को उद्यत होता है, चाहे अपना बाप, भाई, पुत्र तथा सगा सम्बन्धी ही क्यों न हो, उसका मन छोटा हो जाता है। याचक डरते-डरते माँगता है, उसे भय बना रहता है, कि जिससे माँग रहे है, यह कहीं मना न कर दे। तृष्णा मनुष्य को हलका बना देती है। इसलिये सबसे बड़ा दुःख माँगना है। माँ कहाँ तक गिनावे संसार में दुःख-ही-दुःख है। अन्न न मिले तो भूख का दुःख, भूख न लगे तो न खाने का दुःख। भूखा आदमी सब प्रकार के पाप कर सकता है।"

माँ ने कहा—"राजे महाराजे धनवान् तो सुखी रहते होंगे? उनके चारों ओर धन वैभव का अंबार लगा रहता है। सदा नृत्य, वाद्य, गायन आदि मनोरञ्जन के कार्य होते रहते हैं। जो चाहते हैं वही वस्तु तत्काल आ जाती है।"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! ये सब काल्पनिक सुख हैं। राजे महाराजे पदप्रतिष्ठा वाले धनी मानी साधारण लोगों से भी अधिक दुखी रहते हैं। उनका धन वैभव केवल दिखावटी है, उसका सुख में कोई उपयोग नहीं। उलटे उससे अभिमान की ही वृद्धि होती है। उन्हें यह धन वैभव भार रूप हो जाता है। नित्य का राग रंग उन्हें प्रलाप सा लगता है। कामनियाँ उनकी तृष्णा को बढ़ाती हैं। जितने ही भोग प्राप्त होते है उससे दुगिनी उनकी तृष्णा बढ़ती जाती है, तृष्णा का कहीं अन्त नहीं। पदार्थ दुःख नहीं देता। दुःख का कारण तृष्णा है। राजाओं की तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। वे सदा दूसरों को जीतने में व्यग्र बने रहते हैं।"

माँ ने पूछा—"स्वर्ग में तो सुख होगा? वहाँ तो दिव्य भोगों की प्राप्ति होती है!"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! स्वर्ग में भी सुख कहाँ?

भी डाह ईर्ष्या बनी रहती है। अपने से अधिक भोग वाले को देखकर मन मे चोभ होता है। फिर सदा पतन का भय बना रहता है। जैसे कोई पथिक घर से पाथेय बाँधकर ले जाता है, बाहर उसे खाता है, जब पाथेय चुक जाता है, घर लौटकर चला आता है, वैसे ही स्वर्ग में हम अपनी ही कमाई हुई वस्तु का उपभोग करते हैं। पूर्व अर्जित पुण्य समाप्त होते ही स्वर्ग से ढकेल दिये जाते हैं। वह भोगयोनि है वहाँ भोग ही सकते हैं, दूसरे पुण्य कर्म वहाँ कर नहीं सकते। कर्म करने पुण्योपार्जन के निमित्त पुनः यहीं आना पड़ता है। मनुष्यों को ही ये सब दुःख नहीं होते। स्थावर, जंगम, स्वेदज, उद्भिज, अण्डज, तथा पिंडज सभी योनियों मे दुःख-ही-दुःख है।"

माँ! तुम विचारपूर्वक देखो सुख किसको है। संसार मे चारों ओर दुःख-ही-दुःख है। कभी अकाल पड़ गया, कभी अधिक वर्षा हो गयी, कभी महामारी का प्रकोप हो गया। मूर्खता, दरिद्रता, ऊँच-नीच का भाव, रोगो का हो जाना, मृत्यु का दुःख, राष्ट्रों का विप्लव, पारस्परिक रागद्वेष, लड़ाई, झगड़ा, अपमान का दुःख, धन वैभव प्रतिष्ठा पद के लिये लड़ाई, अपनी बात न जाय, अपना सम्मान बना रहे इन बातों की चिंता, घर की कलह, सगे सम्बन्धियों के झगड़े, इस प्रकार जिधर देखो उधर दुःख-ही-दुःख भरा है। संसारी लोग एक दूसरे का अपमान करने में ही अपना बड़प्पन समझते हैं। इन बातों से सदा मन में उद्वेग बना रहता है।"

माँ ने पूछा—"इन दुःखों से छुटकारा पाने का क्या उपाय है?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! इन दुखों से छूटने का एक ही उपाय है। संसार से उदासीन हो जाय, न तो किसी की बात सुने

ही, न किसी से कुछ बोले ही। मौन धारण कर ले। सब की बातों को अनसुनी कर दे। किसी से न राग पूर्वक बोले न द्वेष पूर्ण वचन कहे। सबसे उदासीन होकर वैराग्य धारण कर ले। सबका सम्बन्ध मन से त्याग दे। वैराग्य के बिना त्याग टिक नहीं सकता। जब जगत् से वैराग्य हो जायगा, तो ज्ञान की प्राप्ति होगी और ज्ञान से ही संसार सागर से सदा के लिये मुक्ति हो जायगी। माँ! सोचो, ऐसे दुःख रूप सागर में मैं किससे बोलूँ क्या बोलूँ? यह संसार तो विष्ठा खाने वाले कौओं का स्थान है, यहाँ मोती खाने वाले हंस कैसे रह सकते है? यह अविद्या रूपी वन है। इसमें कौए ही रहते हैं।"

माँ ने पूछा—"यह संसार अविद्या रूपी वन कैसे है?"

एतरेय मुनि ने कहा—"अविद्या रूपी इस संसार वन मे कर्म ही बड़े-बड़े वृक्ष हैं। नाना प्रकार के संकल्प ही इसमे काटने वाले डांस मच्छर हैं। वन मे जैसे धूप सर्दी का कष्ट होता है वैसे ही अविद्या वन मे शोक हर्ष ये धूप सर्दी हैं। मोह ही सघन अंधकार है। लोभ रूप सर्प और विच्छू इसमें भरे पड़े हैं। काम और क्रोध रूप लुटेरे वधिक इसमे वास करते हैं। अतः माँ! मैं इस अविद्या रूपी कौओं के रहने वाले वन से उदासीन होकर–कौओं–संसारी लोगों से कुछ भी सम्बन्ध न रहकर हंसो के रहने योग्य जो विद्यारण्य है उसमे वास करना चाहता हूँ।"

माँ ने पूछा—"भैया! तुम्हारे उस विद्या–वन में क्या क्या है?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! मेरे विद्या वन–में सात बड़े बड़े विशाल वृक्ष हैं, सात पर्वत हैं।"

माँ ने पूछा—"वे सात वृक्ष पर्वत क्या हैं?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! (१) ब्रह्मतेज, (२) प्राणिमात्र

को अभय प्रदान, (३) समस्त प्राणियों के प्रति अद्रोह की भावना, (४) समस्त पारमार्थिक कार्यों में कुशलता दक्षता, (५) ससारी विपया के प्रति अचचलता, (६) प्रिय अप्रिय सभी घटनाओं मे अक्रोध भाव रखना, (७) और सबसे प्रिय वचन बोलना। ये ही मेरे विद्या वन के सात विशद् वृक्ष तथा पवत हैं। इन्हीं की छाया मे बैठकर मैं सुखानुभूति करता हूँ और माँ! मेरे विद्या वन में सात ही रमणीय ह्रद हैं।"

माँ ने पूछा—"वे सात ह्रद कोन-कौन से हैं ?"

एतरेय मुनि ने कहा—"(१) सुदृढ निश्चय, (२) प्राणिमात्र के प्रति समता का भाव, (३) समस्त इन्द्रियों का तथा मन का सयम, (४) परमार्थ सम्बन्धी समस्त गुणों का सचय, (५) ससारी पदार्थों में ममता का सर्वथा अभाव, (६) तप, (७) और यथा लाभ सन्तोप ये ही मेरे विद्या वन के मनोहर सरोवर हैं, जिनमें मैं सुखपूर्वक स्नान करता रहता हूँ। इनके अतिरिक्त मेरे विद्या वन में सात नदियाँ भी हैं।"

माँ ने पूछा—"सात नदियाँ कौन कौन सी हैं ?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"(१) भगवान् के अनन्त सद्गुणों के विशेप ज्ञान होने से जो उनके प्रति प्रगाढ भक्ति होती है यही पहिली नदी है, (२) विपयों से वैराग्य होना दूसरी, (३) ममता का सर्वथा त्याग तीसरी, (४) निरन्तर भगवद् आराधन में निमग्न रहना चौथी, (५) जो भी कुछ कर्म हो वस्तु हो, सबको भगवत् अर्पण करते रहना पाँचवी, (६) ब्रह्म का एकत्व भाव छठीं, (७) और भगवत् सिद्धि प्राप्त करना यह सातवीं नदी है। ये ही मेरे विद्यावन की नदियाँ हैं, जिनमें मैं कल्लोल करता रहता हूँ और जिनके पय पान को करके परम प्रमुदित बना रहता हूँ। इन सातों नदियों का वैकुण्ठ धाम मे सगम होता है। उस सगम में मज्जन

करके आत्मतृप्त, शान्त, जितेन्द्रिय महात्मागण परात्पर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। माता ! मैंने व्रत ले रखा है, इसीलिये मैं किसी से बातें नहीं करता।"

माँ ने पूछा—"भैया ! तुम्हारे व्रत का क्या नाम है ?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ ! मेरे व्रत का नाम ब्रह्मचर्य व्रत है। मैं नित्य हवन करता हूँ।"

माँ ने कहा—"भैया ! मैंने तो तुम्हें कभी हवन करते देखा नहीं। न कभी समिधा, कुश लाते ही देखा है ?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ ! मैं यह स्थूल हवन नहीं करता। मैं तो सूक्ष्म हवन करता हूँ। मेरे हवन में ब्रह्म ही समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही कुशास्तरण है, ब्रह्म ही जल है और हवन कराने वाला गुरु भी मेरा ब्रह्म ही है।"

माँ ने कहा—"भैया ! तुमने तो बड़ी-बड़ी ज्ञान की बातें बतायीं। ये बातें तुमने किस गुरु से सीखी है ? तुम जब से मेरे पेट से पैदा हुए तब से न तो बोले ही, न कहीं पढ़ने गये। कौन है तुम्हारा गुरु ?"

एतरेय मुनि ने कहा—"माँ ! गुरु तो सब का एक ही है। तुम मेरे गुरु का परिचय प्राप्त करना चाहती हो, तो उसे भी सुनो वह मेरा ही गुरु नहीं है सबका गुरु है। वह है हृदय में विराजमान अंतर्यामी परमपुरुष परमात्मा। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा शिक्षक गुरु है ही नहीं। मैं उन हृदयस्थ गुरुदेव को ही नित्य प्रति परम श्रद्धा के सहित प्रणाम करता हूँ।* वे ही मेरे बन्धु है।

---

* एकोगुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो—
यो हृद्गतस्तमहं वै नमामि।
पन्थावमन्यैव गुरु मुकुन्दम्,
परामृना दानवास्सर्व एव॥
(स्क० पु० कु० ख०)

माँ ! मैं गृहस्थ धर्म का पालन करता हूँ ।"

माँ ने कहा—"बेटा ! अभी तुम्हारा विवाह तो हुआ नहीं, गृहस्थ धर्म का पालन कैसे करते हो ?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माताजी ! प्रकृति ही मेरी पत्नी है किन्तु मैं स्त्रैण नहीं। कभी भी उसका चिन्तन नहीं करता। वह भले ही सदा मेरा चिन्तन करती रहे। नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान, मन तथा बुद्धि ये सात प्रकार की अग्नियाँ मेरी गार्हस्थ रूप यज्ञशाला में प्रज्वलित होती रहती हैं। गन्ध, रस, रूप, शब्द, स्पर्श, मन्तव्य, और बोधव्य ये सात मेरी समिधायें हैं। मेरे होता भी नारायण हैं और भोक्ता भी नारायण हैं। वे ही उपस्थित होकर उस हव्य का उपभोग भी करते हैं। इसी यज्ञ द्वारा मैं नारायण का यजन करता हूँ। मेरे मन में न तो किसी वस्तु की कामना है और न किसी से राग अथवा द्वेष ही है। इसलिये माता ! तुम मेरे कारण दुखी मत होओ। ये कर्मकाण्ड के यज्ञ याग क्या वस्तुएँ-मैं तुम्हें उस पद पर पहुँचा दूँगा, जहाँ सैकड़ों यज्ञ करने वाले भी नहीं पहुँच सकते।"

इतरा माँ अपने गूँगे पुत्र की ऐसी ज्ञान वैराग्य युक्त ज्ञान की बातें सुनकर परम विस्मित हुई। अब उसे अपने पुत्र पर गर्व होने लगा। माँ सोचने लगी—"मेरा पुत्र इतना ज्ञानी है। आज इसे सब जड, मूर्ख, गूँगा, बहरा कहते हैं। जब ससार में इसकी ख्याति होगी, तब मेरा भी यश बढेगा। लोग कहेंगे यह इतरा का पुत्र है। मैं बडी भाग्यशालिनी हूँ, जो मुझे ऐसे ज्ञानी पुत्र की माँ होने का देव दुर्लभ पद प्राप्त हुआ।"

माँ ऐसा सोच ही रही थी, कि उसी समय माँ बेटा के सम्मुख ही शख, चक्र, गदा तथा पद्मधारी भगवान् श्रीमन्नारायण वहाँ प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हुए। वे ऐतरेय मुनि के वचनों

से परम प्रसन्न थे। अपने सम्मुख भगवान् को प्रत्यक्ष प्रकट हुआ देखकर ऐतरेय मुनि के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने शीघ्रता से उठकर भगवान् के पादपद्मों मे साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अत्यन्त प्रेम पूर्वक गद्गद वाणी से वेद शास्त्र सम्मत उनकी स्तुति की।

ऐतरेय मुनि की स्तुति सुनकर भगवान अत्यन्त प्रसन्न हुए और मेघ गम्भीर वाणी से ऐतरेय मुनि से कहने लगे—"बेटा ऐतरेय! मैं तुम्हारी स्तुति से अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे मनोवांछित वर माँग लो। मेरे लिये तुमको कुछ भी अदेय नहीं है।"

तब ऐतरेय मुनि ने कहा—"प्रभो! घोर संसार-सागर में निमग्न मुझ अकिंचन को आप अपनी अहैतुकी भक्ति द्वारा उबार लें। यही एकमात्र मेरा अभीष्ट वर है।"

यह सुनकर भगवान् और भी अधिक प्रसन्न हुए और कहने लगे—"वत्स! तुम संसार में फँसे कहाँ हो? तुम तो नित्य मुक्त ही हो। फिर भी तुम मेरी आज्ञा से विवाह करके अपनी माता को प्रसन्न करो। गृहस्थ रहकर भी तुम समस्त कर्मों को मुझे अर्पण करते हुए कर्म करोगे, तो गृहस्थ में भी तुम मुक्तिलाभ करोगे। यद्यपि तुमने वेदों का अध्ययन नहीं किया है, फिर भी तुम्हें मेरी कृपा से समस्त वेद वेदाङ्गों का ज्ञान हो जायगा। अब तुम यहाँ से कोटि तीर्थ में चले जाओ। वहाँ हरिमेधा नाम के मुनि बड़ा भारी यज्ञ कर रहे हैं। उस यज्ञ में जाने से तुम्हारी माता का सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जायगा।"

ऐसा कहकर भगवान् जिस देवप्रतिमा में से प्रकट हुए थे, उसी मन्दिर की प्रतिमा मे पुनः प्रविष्ट हो गये। माता भगवान् का दर्शन करके और अपने पुत्र की ऐसी अलौकिक शक्ति तथा भक्ति

देखकर परम विस्मित हुईं। उमने पूछा—"बेटा! यह तुम्हारे किस जन्म का पुण्य है, जो तुम्हें इतना ज्ञान हुआ और भगवान के साक्षात् दर्शन हुए ?"

ऐतरेय मुनि ने बताया—"माँ! मैं पूर्व जन्म में शूद्र था। एक कृपालु ब्राह्मण ने मुझे द्वादशाक्षर मन्त्र का उपदेश दिया था। उनकी आज्ञा से मैं इस मन्त्र का अहर्निशि जप करता रहा। उसी जप के प्रभाव से मेरे हृदय में भगवद्भक्ति जागृत हुई। उसी के अनन्तर मैं तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न हुआ। मुझे अपने पूर्वजन्म की सब बातें स्मरण हैं। वह मन्त्र भी स्मरण है, इसीलिये मैं बिना किसी से बोले निरन्तर उसी मन्त्र का जप करता रहता हूँ। भगवान् ने कृपा करके मुझे अपनाया, अपने देव दुर्लभ दर्शन देकर मुझे कृतकृत्य किया। अब मैं भगवान् की आज्ञा का पालन करके कोटि तीर्थ में हरिमेधा मुनि के यज्ञ में जाता हूँ। भगवान् ने कहा है—वहाँ जाने से माँ! तुम्हारा सम्पूर्ण मनोरथ सफल हो जायगा।"

माता से इस प्रकार कहकर ऐतरेय मुनि कोटितीर्थ में गये। वहाँ हरिमेधाजी यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञ मे जाकर इन्होंने यह श्लोक पढ़ा—

नमस्तस्मै भगवते विष्णवेऽकुण्ठमेधसे।
यन्माया मोहित धियो भ्रमामः कर्मसागरे॥

इस श्लोक को सुनते ही हरिमेधा तथा वहाँ यज्ञ मे उपस्थित समस्त सदस्यगण परम प्रसन्न हुए। उन्होंने ऐतरेय मुनि का अत्यधिक सम्मान किया। ऐतरेय मुनि ने भी अपनी भगवत् दत्त विद्या से वेदार्थ निरूपण करके सभी को परम सन्तुष्ट किया। हरिमेधा मुनि ने उन्हें विपुल दक्षिणा दी और अपनी पुत्री का विवाह उनके साथ कर दिया। ऐतरेय मुनि वहाँ से सत्कृत होकर

तथा अपनी पत्नी को लेकर अपनी माता के समीप आये और निष्काम भाव से भगवत् अर्पण बुद्धि से गृहस्थ धर्म का पालन करने लगे। उनके अनेकों पुत्र हुए। वे निरन्तर भगवान् वासुदेव की भक्ति मे ही लीन बने रहते थे। अन्त मे गृहस्थ रहते हुए ही उन्होंने मोक्ष पदवी को प्राप्त किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उन्हीं ऐतरेय मुनि द्वारा जो अपने शिष्यों और पुत्रों को उपदेश है, वही ऋक्वेद का ऐतरेय आरण्यक है, उसी के अन्तर्गत यह ऐतरेय उपनिषद् है। अब इसी के अर्थ को निरूपण करना है। उपनिषद् को आरम्भ करने से प्रथम शान्ति पाठ करना चाहिये। अतः आप लोग इस उपनिषद् के शान्ति पाठ का भाव भी सुन लीजिये-शिष्य शान्ति पाठ करते हुए प्रार्थना कर रहा है—

हे सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मन्! मेरी जो वाणी है। वाणी इन्द्रियों का उपलक्षण है। अर्थात् मेरी समस्त इन्द्रियाँ मन में प्रतिष्ठित हो जायँ और मेरा मन इन्द्रियों मे प्रतिष्ठित हो जाय। भाव यह हुआ कि मैं मनसा, वाचा और कर्मणा एकसा हो जाऊँ। जो बात मेरे मन में हो, वही वाणी द्वारा उच्चारण करूँ और उसे ही कर्म में प्रवृत्त करूँ। यह न हो कि मन में कुछ वाणी में कुछ और कर्म में कुछ। तीनों का समन्वय हो। मेरे सकल्प भी विशुद्ध हों तथा मेरी वाणी भी विशुद्ध हो। हे प्रभो! आप मेरे सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट हो जाइये। मुझे अपने अलौकिक तेज के दर्शन कराइये, क्योंकि आप परम प्रकाश स्वरूप हैं।"

फिर साधक मन और वाणी से कहता है—"हे मन! हे मेरी वाणी! तुम दोनों मेरे लिये वेद विषयक ज्ञान को लाने वाली बनो। अर्थात् मेरे मन में वेदों का प्रकाश हो, मेरी वाणी वेदों का उच्चारण करे, जिसे मैं याद कर लूँ, ऐसा मेरा वेद विषयक

ज्ञान मुझे सदा स्मरण रहे, कभी विस्मृत न हो। मैं वेदाध्ययन के द्वारा दिन रात्रि को एक कर दूँ। भाव यह है, कि वेदाध्ययन करते समय मुझे यह याद ही न रहे, कि अब दिन है या रात्रि। मैं सदा वाणी से सूनृत मधुर श्रेष्ठ वचन ही बोला करूँ। मेरी जिह्वा सदा सत्य भाषण ही किया करे। हे परब्रह्म परमात्मन्! आप मेरी रक्षा करें और बोलने वाले, उपदेश देने वाले मेरे आचार्य की भी रक्षा करें। फिर बल देने के निमित्त प्रार्थना को समाप्त करने के निमित्त इसी बात पर बल देते हुए इन्हीं बातों को पुनः दुहराते हैं—"प्रभो! रक्षा करें मेरी और रक्षा करें मेरे आचार्यदेव की भी।"

इस प्रकार प्रार्थना करके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध तापों की शान्ति के निमित्त तीन बार शांति पाठ करते हैं। -

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

छप्पय

वाणी तैं ऋत सत्य सदा बोलूँ हे भगवन!
रक्षा मेरी करो करूँ सरबसु हौं अरपन॥
मेरे जो आचार्य देहिं जो मोकूँ शिक्षा।
उनकी हू सब भाँति करें हे प्रभुवर! रक्षा॥
रक्षा मम आचार्य की, करत रहें भगवन सतत।
त्रिविध ताप की शांति हो, प्राप्त करें हम नित अमृत॥

सृष्टि रचना (१)

[८७]

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।
नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ।❀
(ऐ० उ० प्र० म० १ म०)

छप्पय

जगतैं पहिले एक आतमा रहि न जीव बचि ।
प्रभु ने कर्यो विचार सुगाऊँ करम लोक रचि ॥
अम्भ, मरीची, मरम आप सब लोक रचाये ।
अन्तरिच्छ, भू, स्वरग, सकल पाताल बनाये ॥
हिरण गरभ कूँ लक्ष्य करि, करी तपस्या तासु तन ।
अण्ड सरिस मुख छिद्र है, वाक् वाक् तैं है अगिन ॥

यह दृश्य जगत् बनता बिगड़ता रहता है, परिवर्तित होता रहता है । जितने शरीर हैं, वे क्षण क्षण पर बदलते रहते हैं, जैसे नदी का जल क्षण क्षण पर परिवर्तित होता रहता है । जगत् में भी मन्वन्तरों के बीच में खण्ड प्रलय होती रहती है । कभी समुद्री तूफान आ जाता है, करोड़ों जीव सोते के सोते ही रह जाते हैं ।

❀ ॐ यह दृश्य जगत् के प्रकट होने से पहले एक केवल एक आत्मा ही आत्मा था । दूसरा कोई चेष्टा करने वाला प्राणी नहीं था । उस परमात्मा ने विचार किया कि मैं अवश्य ही लोकों की रचना करूँ ।

कभी बरफ का तूफान आता है, कभी भूचाल आता है, कभी वायु का बवडर उठता है। ये सब असख्यों जीवो का सहार कर देते हैं। जहॉ स्थल है, वहॉ जल हो जाता है, जहॉ जल है, वहाँ स्थल हो जाता है। जहॉ बडे बडे ग्राम, नगर, पुर, पत्तन, गढ तथा अन्यान्य बस्तियॉ होती हैं, वहॉ वन बन जाते हैं, चौपट मैदान हो जाते हैं।

ब्रह्माजी के एक दिन में कल्प के अंत में भू, भुव और स्व य तीनो लोक नष्ट हो जाते हैं, त्रिलोक की प्रलय हो जाती है। प्रलयाग्नि की लपटें महर्लोक तक पहुँच जाती है, महर्लोक वासी जनलोक में चले जाते हैं। उस समय तीनों लोकों में एक भी जीव नहीं रहता। ब्रह्माजी की अपनी आयु के जब १०० वर्ष बीत जाते हैं, तब महाप्रलय हो जाता है। भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्यलोक तथा नीचे के सात लोक सभी नष्ट हो जाते हैं। ससार में एक भी चेष्टा करने वाला जीव शेष नहीं रह जाता।

महाप्रलय के अनतर पुनः परमात्मा की प्रेरणा से सृष्टि आरभ हो जाती है। वेदों में, पुराणों में तथा महाभारतादि इतिहास ग्रन्थों में सृष्टि के अनेकों प्रकार हैं। य सभी प्रकार सत्य हैं, क्योंकि सृष्टि एक ही बार तो हुई नहीं। महाविष्णु की एक श्वॉस लेने पर अगणित ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और प्रश्वास लेने पर अगणित ब्रह्माण्ड विलीन हो जाते हैं। इनकी सृष्टि में तथा प्रलय में कुछ न कुछ अन्तर पड ही जाता है। जैसे तीर्थराज प्रयाग में माघ मकर आने पर लोग कल्पवास करते हैं। कल्प कहते हैं नवीनीकरण को। वर्षा काल में गगा यमुना जहाँ तक बढ़कर अपने जल से जितनी भूमि को धोकर नवीन बना देती हैं, उस कल्प की हुई भूमि में झोपडी बनाकर माघ-

मकर भर नियम व्रत के साथ निवास करने को कल्पवास कहते हैं। राज्य की ओर से विद्युत की, जल की, स्वच्छता की, सुरक्षा का तथा आवास आदि की व्यवस्था होती है। प्रतिवर्ष नये नगर का निर्माण होता है। सब विभागों के छोटे बड़े अधिकारी अपने तम्बू डेरे लगा कर वहाँ अस्थायी निवास स्थान बना लेते हैं। प्रतिवर्ष नगर का निर्माण होता है, माघमकर के अनन्तर वह नगर समाप्त कर दिया जाता है। दूसरे वर्ष वर्षा के अनन्तर पुनः कल्पवास नगर का निर्माण होने लगता है। यद्यपि प्रतिवर्ष निर्माण प्रायः एक सा ही होता है, फिर भी प्रतिवर्ष कुछ-न कुछ उलट फेर होता ही रहता है। कभी तहसीली गंगा पट्टी में बनती है, कभी यमुना पट्टी में, कभी बाँध के ऊपर, कभी प्रतिष्ठानपुर (झूसी) की ओर। इस प्रकार के परिवर्तन प्रायः प्रत्येक वर्ष होते हैं। जैसे अधिकारी आ गये वैसे परिवर्तन होते हैं। कभी कुंभ, अर्ध कुंभ में विशेष प्रबन्ध किया जाता है, मेले की सीमा अत्यधिक बढ़ा दी जाता है। इसी प्रकार महाप्रलय के अनन्तर कभा किसी ढंग से, कभी किसी ढंग से सृष्टि आरंभ होती है। किस पुराण में, किस उपनिषद् में, किस महाकल्प की सृष्टि का वर्णन है, इसे कोई नहीं बता सकता। अतः महाकल्पों के भेद से सृष्टि के जितने भी प्रकार हैं, सभी सत्य हैं, सभी उचित हैं। यहाँ ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार औपनिषद् सृष्टि क्रम का वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐतरेय उपनिषद् में शान्ति पाठ के अनन्तर सृष्टि रचना विषयक परमात्मा के प्रथम संकल्प का वर्णन है। यह दृश्य जगत् कैसे उत्पन्न हुआ? इसी की प्रक्रिया बताते हैं। महाप्रलय हो जाने पर एक मात्र परब्रह्म परमात्मा के

अतिरिक्त चेष्टा करने वाला कोई भी प्राणी नहीं था। परमात्मा के अन्तःकरण मे सब कुछ विलीन हो चुका था।"

शौनकजी ने पूछा—"तब फिर यह चित्र-विचित्र वस्तुओं वाला दृश्य जगत् कैसे उत्पन्न हो गया ?"

सूतजी ने कहा—"जगत् परमात्मा के संकल्प से हो गया। अकेले बैठे-बैठे भगवान क्या करें, किससे खेलें ? भगवान् क्रीडा प्रिय हैं। फिर उनके भीतर विद्यमान जीव राशि के कर्म भी भोगोन्मुख हो रहे थे। अतः अपनी क्रीडा के लिये, मन विनोद के लिये तथा जीवों के भोग भुगाने के लिये भगवान् ने निश्चित विचार किया, कि लोकों की रचना करूँ। सभी लोकों मे जीवों को उत्पन्न करूँ, उनके भोगने के पदार्थों को उत्पन्न करूँ, वे पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार भोगो को भोगे। परमात्मा के मन मे ऐसा सकल्प आते ही, उन्होंने लोको की रचना आरम्भ कर दी। पहिले उन्होने अम्भ की रचना की।"

शौनकजी ने पूछा—"अम्भ क्या ?"

सूतजी ने कहा—"स्वर्गलोक से ऊपर के लोकों को अम्भ कहते हैं। ये अम्भ मेघों को धारण करते हैं, जैसे स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक। पहिले-पहिल ये पाँच लोक उत्पन्न हुए। इन सबकी स्वर्ग संज्ञा है। ये दिव्यलोक हैं। ये लोक प्रलय में भी नष्ट नहीं होते। केवल महाप्रलय के समय ही नष्ट होते हैं। इन लोकों के अनन्तर उन्होंने मरीची-लोक की रचना की।"

शौनकजी ने पूछा—"मरीचीलोक किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन ! सूर्य की किरणों से सम्बन्ध रखने से स्वर्ग और पृथ्वी के बीच में अन्तरिक्षलोक है, जिसमे सिद्ध लोग तथा भूत-प्रेत, पिशाचादि वायु शरीर वाले जीव रहते

है, जिसमें विमानों वाले पुरुष, उड़ने की शक्ति वाले सिद्ध तथा पंख वाले पक्षी उड़ते हैं, उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। उसी की उपनिषद्कार ने मरीची संज्ञा बतायी है। फिर मरमलोक की रचना की।"

शौनकजी ने पूछा—"मरमलोक कौन-सा है ?"

सूतजी ने कहा –"जहाँ के लोग मृत्यु को प्राप्त होते हैं–मरते है–उसी मृत्युलोक की उपनिषद्कार ने मरम् संज्ञा बतायी है। प्राणी केवल पृथ्वी पर ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अन्तरिक्ष तथा पाँचों स्वर्गवासी जीव मरते नहीं। पुण्यक्षीण होने पर उन्हें धकेल दिया जाता है। मृत्यु तो केवल पृथ्वी के रहने वालों को ही मारती है। अतः पृथ्वी का ही नाम मरम् लोक है। तदनन्तर आपलोकों की सृष्टि हुई।"

शौनकजी ने पूछा "आपलोक कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा –"पृथ्वी के नीचे के जो (१) अतललोक, (२) वितललोक, (३) सुतललोक, (४) तलातललोक, (५) महातललोक, (६) रसातललोक, (७) और पाताललोक ये सात लोक जल की अधिकता होने के कारण आपः कहते हैं, जिन्हें भू विवर भी कहते हैं, उपनिषद्कार ने इनकी आपः संज्ञा बतायी है। अर्थात् सात पृथ्वी से ऊपर के लोक और सात पृथ्वी के नीचे के लोक इस प्रकार चौदह लोकों की रचना की।"

लोक तो बन गये, किन्तु खाली लोकों के ही बन जाने से तो काम नहीं चलने का। घर बना दो और उसमें रहने वाला कोई न हो, तो घर व्यर्थ है। अतः परमात्मा ने सोचा—"ये सब लोक तो बन गये, अब मुझे इनमें रहने के लिये लोकपालों की भी रचना अवश्यमेव करनी चाहिये। यह विचार कर उसने जल मे से हिरण्यगर्भ पुरुष को निकालकर उसे मूर्तिमान बनाया।

अर्थात् सर्वप्रथम जो पुरुषावतार हिरण्यगर्भ है, उसकी उन्होंने उत्पत्ति की। इसे आद्यपुरुष प्रजाओं का पति - विराट् कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"पानी में से निकालकर मूर्तिमान कैसे बनाया ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये, भगवन् ! मानव शरीर अग्नि और सोम दो तत्त्वों से मिलकर बनता है। माता की रज अग्निस्वरूप है, पिता का वीर्य सोमस्वरूप जल है। इसमें प्रधानता सोम की हो जाती है। माता तो गर्भ धारण करने की थेली होती है, वह पुरुष के अधीन है, मुख्य अंश तो वीर्य का ही है। इसीलिये पुरुष को सोम्य करके सम्बोधन किया जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"जल तो गीला होता है, उस गीले से हाथ, पैर आदि अवयव कैसे बने ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! कुम्हार तालाब के नीचे की गीली मिट्टी से ही तो बर्तन बनाता है। बर्तन बनाकर उसे सुखा लेता है, इसीलिये उपनिषद्कार ने 'मूर्छन' शब्द दिया। अर्थात जल से निकाल कर उसे अवयवों वाला मूर्तरूप दिया।"

अब जल के ऊपर विराट् पुरुष हिरण्यगर्भ बन गया। उसे चारों ओर से आच्छादित करके अण्डे के आकार का बना लिया। जैसे अंडे को पक्षि माँ अपने पंखों की भीतर की देहाग्नि से पकाती है और पकने के अनन्तर वह फूट जाता है, उसमें मुख हो जाता है। जेसे फोड़ा पक जाने पर उसमें अपने आप मुख हो जाता है और फूट जाता है। उसी प्रकार वह समस्त अण्ड जो अण्डाकार बना हुआ था परात्पर परमात्मा की संकल्प रूपी तप अग्नि में पक कर फूट गया। उसमें मुख उत्पन्न हुआ। अर्थात् उस हिरण्यगर्भ रूप पुरुष को लक्ष्य करके परमात्मा ने तप किया-ज्ञानमय विचार किया—इससे उस अण्ड में सर्वप्रथम मुख

हो गया। उस मुख से वाक् इन्द्रिय वाणी उत्पन्न हुई। उस वाक् इन्द्रिय के अधिष्ठातृदेव के रूप में अग्निदेव प्रकट हुए। मुख्य छिद्र होने के कारण उसका नाम मुख हुआ, वाक् उस मुख की इन्द्रिय हुई और वाक् के देवता अग्नि हुए।"

मुख के अनन्तर नासिका उत्पन्न हुई। नासिका में दो छोटे-छोटे छिद्र हो गये। उन छिद्रों से प्राण उत्पन्न हुए। प्राण से वायुदेव की उत्पत्ति हुई। फिर आँखों के दो गोलक उत्पन्न हुए। उनमे सूर्यदेव प्रकट हुए। तदनन्तर कानों के दो छिद्र उत्पन्न हुए, कानों से श्रोत्र इन्द्रिय प्रकट हुई। श्रोत्र इन्द्रियों से दशों दिशायें प्रकट हुई। फिर त्वचा प्रकट हुई। त्वचा से रोमावली प्रकट हुई। रामों से ओषधियाँ तथा वनस्पतियाँ प्रकट हुई। तदनन्तर हृदय प्रकट हुआ। हृदय से मन प्रकट हुआ। हृदय में मन का आविर्भाव हुआ। मन के अधिष्ठातृदेव चन्द्रमा प्रकट हुए। तदनन्तर नाभि प्रकट हुई। नाभि से अपानवायु प्रकट हुई और अपानवायु से मृत्यु देवता उत्पन्न हुए। तदनन्तर शिश्नेन्द्रिय प्रकट हुई। शिश्न से वीर्य उत्पन्न हुआ और वीर्य से जल उत्पन्न हुआ।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! नासिका छिद्रों से प्राण की उत्पत्ति बतायी, किन्तु घ्राण इन्द्रिय का यहाँ कथन नहीं किया और न घ्राण के अधिष्ठातृदेव अश्विनी कुमारों की उत्पत्ति बतायी, और मुख में केवल वाक् इन्द्रिय का ही वर्णन किया। रसनेन्द्रिय तथा उसके अधिष्ठातृ देव का भी वर्णन नहीं किया। यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! नासिका कह दी, उसीसे घ्राणेन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृदेव को भी उपलक्षण मात्र से समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार मुख में दो इन्द्रियाँ हैं एक वाणी

कर्मेन्द्रिय और रसना ज्ञानेन्द्रिय। जिह्वा से ही दोनों का सम्बन्ध है। अतः वाणी के साथ रसना और उसके अधिष्ठातृदेव को भी समझ लेना चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छा, यह तो शिश्नेन्द्रिय का उसके वीर्य और जल का वर्णन हुआ, किन्तु गुद इन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृ देव निऋति का नाम भी नहीं आया, यह क्या बात है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! ऋषिगण संकेत में ही वर्णन करते हैं। नाभि का वर्णन किया और मृत्यु का वर्णन किया। मृत्यु तो गुदेन्द्रिय का अधिष्ठातृ देव है, और मल त्याग में अपान ही मुख्य कारण है। अपान वायु नाभि के समीप रहता है। अतः अपान और मृत्यु से गुदेन्द्रिय का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार उस अंडा में से एक पुरुषाकार विराट् पुरुष उत्पन्न हो गया। इस प्रकार इन्द्रियों के गोलक, इन्द्रियाँ और उनके अतिष्ठातृदेव ये तीनों उत्पन्न हुए। तीनों का परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा और दूसरे के बिना तीसरा नहीं रह सकता। इस प्रकार पुरुषाकार मूर्तिवान् इन्द्रियों वाला यह पुरुष—जो सृष्टि का कारण है वह उत्पन्न हो गया।"

शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! फिर क्या हुआ ?"

सूतजी ने हँसकर कहा—"भगवन्! फिर होता था, वही हुआ। देवता चक्कर में फँस गये। भूख प्यास ने पुरुष को आ दबाया। गाड़ी चल निकली। संसार की जननी यह गॅड भूख ही है, अब विराट् पुरुष को कैसे भूख ने दबाया और देवताओं ने क्या माँगा? इसका वर्णन ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खंड में होगा। जिसे में आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

फेरि नासिका छिद्र प्राण पुनि वायु भये तहँ।
आँखि, चक्षु, आदित्य कान पुनि श्रोत्र भये तहँ॥
दिशा, त्वचा, पुनि लोम वनस्पति औषधि सबरी।
हिय, मन, शशि पुनि नाभि अपान हु मृत्यु नाभि ई॥
शिश्नेन्द्रिय प्रकटित भई, अमृत वीर्य उत्पन्न जहँ।
तातें जल पैदा भयो, पुरुष रूप सम्पन्न तहँ॥

सृष्टि–रचना (२)

[८८]

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तम– शनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥१॥ ❀

(ए० उ० प्र० अ० २ ख० १म०)

छप्पय

प्रभु निर्मित सब देव परे भवसागर माहीं ।
भूख प्यास युत भये देव बोले प्रभु पाहीं ॥
करें थान इक जहाँ अन्न खावें निबसें विभु ।
गौ तिनि सम्मुख करी कहें पर्याप्त न यह प्रभु ॥
अश्व न स्वीकार्‌यो जबहिं, पुरुष देह आगे कर्‌यो ।
सुकृत कह्यो तब प्रभु कही–यह निवास तुमरो भयो ॥

त्रिकालदर्शी प्राचीन ऋषि महर्षियों ने गणना करके ८४ लाख योनियाँ बतायी हैं। वे सब भोग योनियाँ हैं। अंडों से

❀ परमात्मा द्वारा रचे वे सब के सब देवता इस संसार रूप महान् सागर में आकर गिर पड़े। प्रभु ने उन समस्त अग्नि आदि देवों को भूख प्यास से युक्त कर दिया। तब देवता उन परमात्मा से बोले—"हमारे लिये निवास-स्थान की व्यवस्था कर दीजिये। जिसमें रहकर हम अन्न भक्षण किया करें।"

उत्पन्न कपोत, मयूर आदि पक्षी केवल प्रारब्ध कर्मों का भोग करते हैं। क्रियमाण कर्मों का निर्माण नहीं कर सकते। इसी प्रकार स्वेद (पसीना) से उत्पन्न होने वाले जूआँ आदि स्वेदज प्राणी और पृथ्वी को फोडकर उत्पन्न होने वाले वृक्षादि उद्भिज प्राणी भी कोई क्रियमाण कर्म नहीं कर सकते। देवताओं की योनि भी भोग योनि है। देवता केवल पृथ्वी पर किये हुए पुण्यों का भोग ही कर सकते हैं। नवान कर्म पाप पुण्य वे कुछ नहीं कर सकते। जरायुज जो पशु मनुष्यादि हैं। इनमें गौ, भैंस, घोड़ा आदि भी नवीन कर्म करने में असमर्थ हैं। केवल मानव योनि ही ऐसी योनि है, जो प्रारब्ध कर्म भोगों के साथ-ही-साथ वासना-नुसार नये क्रियमाण कर्मों का भी निर्माण कर सकते हैं। मनुष्य-योनि स्वर्ग, नरक तथा मोक्ष का द्वार है। इस मनुष्य योनि में ही पापकर्म करके नरक जा सकते हैं, पुण्य कर्म करके स्वर्ग जा सकते हैं और पाप-पुण्य दोनों से रहित होकर मोक्ष की पदवी भी पा सकते हैं, जन्म-मरण के चक्कर से सदा-सदा के लिए छुट-कारा पा सकते हैं।

यह नृदेह आद्य है, चौरासी लाख योनियों के पश्चात् प्राप्त होती है, इस शरीर को पाकर भी जिसने ससार-सागर से पार होने का प्रयत्न नहीं किया, उसने हाथ मे आये हुए रत्न को काँच के बदले में मानो दे दिया। देवगण भी इच्छा करते हैं, कि हमें मानव शरीर मिले, तो हम मोक्ष के लिये यत्न करें। इस देव योनि में तो केवल पूर्व कृत पुण्यों के भोगों को ही भोग सकते हैं। मुक्ति के लिये साधन नहीं कर सकते। साधन तो केवल कर्म भूमि भारतवर्ष में मनुष्य शरीर से ही सभव है। इसीलिये देवताओं ने मनुष्य शरीर को सुकृत बताकर उसे अपनाया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं सृष्टि के सम्बन्ध में बता

रहा था। जब यह ब्रह्म सम्बन्धी अंडाकार गोला फूट गया और उसमें मुख तथा अन्य इन्द्रियों के गोलक प्रकट होने लगे, तो इन्द्रियों के गोलक हुए। फिर उनमें वह इन्द्रिय आकर बैठ गयी। जैसे हमारे कान के छेद हैं, ये श्रोत्र इन्द्रिय के गोलक हैं, रहने के स्थान हैं, दो भाग मे चिरी हुई शीशे वाली मांस रक्त से निर्मित आँखें गोलक हैं, इसमें चक्षु इन्द्रिय पृथक् है। बहुतों की आँखें देखने में खुली हुई सुन्दर दीखती हैं, कानों की बनावट उसके छेद ज्यों के त्यों हैं। किन्तु उन्हे न आँखों से दीखता है, न कानों से सुनते हैं। इसका कारण यही है, कि आँख, कान के गोलक तो ठीक हैं, उनमे से श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय की शक्ति नष्ट हो गयी। अतः इन्द्रियों के गोलक पृथक् हैं। इन्द्रिय शक्ति पृथक् है। इन्द्रियों के गोलक और इन्द्रिय शक्ति के अतिरिक्त तीसरे उन-उन इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव भी पृथक्-पृथक् होते हैं। जैसे मुख तो गोलक है, इसमें कर्मेन्द्रिय वाणी है, इसके अधिष्ठातृ देव अग्नि हैं। नाक गोलक, घ्राण इन्द्रिय तथा अश्विनीकुमार देवता। नेत्र गोलक, चक्षु इन्द्रिय, सूर्य देव। कर्ण गोलक, श्रोत्र इन्द्रिय, दिग् देवता। त्वचा गोलक, स्पर्श इन्द्रिय, वायु-देवता। शिश्न गोलक, आनन्द इन्द्रिय, प्रजापति देव। गुदा गोलक, पायु इन्द्रिय, निर्ऋति देव। हस्त गोलक, ग्रहण त्याग रूप इन्द्रिय, इन्द्र–देवता। पैर गोलक, गति रूपा इन्द्रिय और विष्णु–देवता। अन्तःकरण गोलक, बुद्धि इन्द्रिय, ब्रह्मा–देवता। हृदय गोलक, मन इन्द्रिय, चन्द्रमा–देवता। हृदय गोलक, अहंकार इन्द्रिय, रुद्र–देवता। हृदय गोलक, चित्त इन्द्रिय, ब्रह्मा–देवता।"

इस प्रकार विराट् पुरुष के गोलक, इन्द्रियाँ और उन-उन इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव उत्पन्न हुए। गोलक और इन्द्रियाँ तो जड़ ही ठहरे। चैतन्य तो ये देवता ही थे, अब तक ये देवगण पर-

ब्रह्म परमात्मा के भीतर वास करते थे, अब इन सबको भगवान् ने ससार रूप महासागर मे लाकर फेंक दिया। अब तक तो ये नित्यतृप्त परिपूर्ण परब्रह्म के भीतर नित्यतृप्त रहते थे। जब ये समस्त देवता ससार रूप महान् समुद्र में आ पड़े, तो भगवान् ने इन्हें भूख प्यास से युक्त बना दिया। अर्थात् ससार में आकर अब इन्हें आहार की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इन देवताओं को ओर तो कुछ दीखा नहीं। अपने को उत्पन्न करने वाले अपने जनक परमात्मा को अपने सम्मुख देखा।"

परमात्मा को देखकर इन देवताओं ने प्रार्थना की—"भगवन्! हमें भूख और प्यास पीड़ा पहुँचा रही हैं।"

भगवान् ने पूछा—"भूख-प्यास कहाँ से आ गयीं ?"

देवताओं ने कहा—'सबके जनक तो भगवन्! आप ही हैं। जैसे आपने हम सबको उत्पन्न किया है, वैसे ही भूख को भी आपने ही उत्पन्न कर दिया होगा ?"

यह सुनकर परब्रह्म परमात्मा हँस पड़े और बोले—"तुम सब चाहत क्या हो ?"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! हमे आयतन-रहने का कोई सुन्दर-सा स्थान दीजिये, जिसमें रहकर अन्न को खाकर, पानी को पीकर अपनी भूख-प्यास को शान्त कर सकें।"

यह सुनकर परमात्मा ने उसी समय एक गौ शरीर का निर्माण किया और उस शरीर को लाकर देवताओं के सम्मुख रखकर बोले—"इसमे रहोगे ?"

देवताओं ने कहा—"घर तो सुन्दर है, किन्तु इसमे हमारा निर्वाह नहीं होगा।"

भगवान् ने कहा—"क्यों, क्या त्रुटि है ?"

देवताओं ने कहा—"इसमें रहकर साधन भजन की सुविधा

नहा। दूध तो मिलेगा। फिर इसके एक ही ओर दाँत हैं। दूब आदि की जड को यह उखाड नहीं सकती। इसमें विशेष गति नहीं मथर भाव से चलती है, बड़े-बड़े सींग हैं, कभी हमें मार भी सकती है।"

तब परमात्मा ने तुरन्त एक अश्व की रचना करके देवताओं के सम्मुख रखा और कहा—"देखो, इसके दोनों ओर दाँत हैं। इसकी गति भी अत्यधिक है, इसके सींग भी नहीं। इसकी पीठ भी सुन्दर है, इसी पर चढकर तुम आनन्द से घूमना।"

देवताओं ने कहा—"ये सब गुण तो इसमें हैं किन्तु इसमें विवेक विचार तो नहीं है। पुण्यापुण्य का ज्ञान भी नहीं। यह भी स्वर्ग तथा मोक्ष का साधन नहीं कर सकता।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भगवान् ने समस्त तिर्यक योनि के एक कम चौरासी लाख देह लाकर देवताओं को दिखाये। यहाँ तिर्यक् से तात्पर्य उन योनियों का ही है जिनका मुख नीचे की ओर हो, जो नीचा मुख करके चलें। मनुष्य को छोड़कर ससार के समस्त जीवों का सिर नीचे की ही ओर होता है। मनुष्य ही एक ऐसा जीव है, जो सदा ऊपर सिर करके चलता है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य कोई जीव हँस नहीं सकता। क्योंकि हँसी ही शोक को दूर कर सकती है। शोक एक मात्र संसारी बन्धनों से मुक्त होकर प्रभु की शरण में जाने पर ही छूट सकता है। वह मनुष्य योनि में ही संभव है। अन्य योनि में कोई अनुग्रह सृष्टि का जीव मुक्त हो जाता है, वह नियम नहीं, अपवाद है। साधारणतया नियम यही है कि स्वर्ग,नरक तथा मोक्ष का द्वार मानव शरीर ही है।"

इस प्रकार देवताओं ने समस्त देह देखकर उन सबमें कुछ-न-कुछ त्रुटि दिखाकर उन्हें अपने आयतन—निवास स्थान—के अयोग्य

बता दिया। तब परमात्मा ने मनुष्य योनि बनाकर उसे देवताओं के सम्मुख रखा और कहा—"देखो, यह निवास स्थान कैसा है?"

उसे देखकर सभी देवतागण परम प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"सुकृतंवाव सुकृतवाव। धन्य है, धन्य है। बस, बस बहुत सुन्दर, बहुत ही सुन्दर है। आपकी यह रचना तो सचमुच ही अत्यन्त अद्‌भुत है। यह शरीर बहुत ही सुन्दर बन गया। यथार्थ में यही हमारे रहने के योग्य है।"

परमात्मा ने कहा—"अच्छा, तुम इसे अपने उपयुक्त मानते हो? तो इसमें सब यथा स्थान जहाँ जिसे रुचे वहाँ प्रविष्ट हो जाओ।"

इतना सुनते ही, सर्व प्रथम अग्नि देवता दौड़े कि मैं देवताओं का मुख हूँ। अतः सर्व प्रथम मुख पर अपना अधिकार स्थापित कर लूँ। सो अग्नि देवता वाक् इन्द्रिय बनकर मुख मे प्रविष्ट हो गये। वायुदेव ने सोचा—"सबसे अधिक तेज चलने वाला मैं पीछे ही रह गया। अग्नि ने मुख्य स्थान पर अपना आधिपत्य जमा लिया। मैं मुख से भी ऊपर के स्थान में अधिकार जमाता हूँ।" यह सोचकर वे प्राण बनकर नासिका के छिद्रों में प्रविष्ट हो गये। नासिका पर उन्होंने अधिकार जमा लिया।

सूर्यदेवता ने सोचा—"सबसे अधिक प्रकाश करने वाला मैं हूँ। मेरे ही प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं। अग्नि, वायु ने पहिले हाथ मार लिया, मैं इनसे भी ऊपर की इन्द्रियों में स्थान प्राप्त करूँगा।" यह सोचकर सूर्यदेव नेत्र इन्द्रिय बनकर आँखों के गोलकों में प्रविष्ट हो गये। दशों दिशाओं के जो अभिमानी देवता थे, वे श्रोत्र इन्द्रिय बनकर कानों मे प्रविष्ट हो गये। जितनी ओषधियाँ हैं जिनके पेड फल पक जाने पर नष्ट हो जाते हैं और जितनी वनस्पतियाँ हैं जो फल फूल देती रहती हैं, उनके

अधिष्ठातृ देव रोएँ बनकर त्वचा में प्रविष्ट हो गये। चन्द्रमा ने सोचा—"मैं ही पिछड़ रहा हूँ। और सब देव तो बाहर के करणों इन्द्रियों– में प्रविष्ट हुए हैं। मैं भीतर के करण में, अन्तःकरण में--प्रविष्ट हो जाऊँ।" यह सोचकर चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गये। मृत्यु देवता ने सोचा—"अच्छे-अच्छे स्थानों पर तो सबने अधिकार जमा लिया, ऐसा न हो, मैं रह जाऊँ।" यह सोचकर वे अपान वायु बनकर गुदेन्द्रिय के अधिष्ठातृ देव होकर नाभि में निवास करने लगे।"

जल के अभिमानी देवता वरुणजी ने सोचा—"हम तो पिछड़ गये।" अतः वे वीर्य बनकर शिश्नेन्द्रिय में प्रविष्ट हो गये। सब लोगों ने तो सब स्थानों पर अपना अधिकार जमा लिया। परमात्मा ने जो भूख और प्यास को उत्पन्न किया था, वे ज्यों-की-त्यों रह गयीं। तब उन्होंने उन परब्रह्म परमात्मा से पूछा–"प्रभो ! हमारे लिये भी तो स्थान की व्यवस्था कीजिये।"

इस बात को सुनकर परमात्मा ने कहा—"देखो, मैं तुम दोनों को इन सब देवताओं में ही भाग दिये देता हूँ। इन देवताओं के स्थानों में ही तुम्हें सम्मिलित किये देता हूँ। तुम इनके साथ मिल जुलकर इनके साथ-साथ ही निर्वाह कर लो। इसलिए जिस किसी भी देवता के लिये इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न विषय रूप हवि दी जाय, उसे तुम उन देवताओं के साथ ही ग्रहण कर लिया करना। देवता के भोजन में भूख-प्यास दोनों को ही भाग मिला करेगा।"

शौनकजी ने पूछा—"भूख-प्यास को देवताओं के साथ स्थान देने का क्या तात्पर्य है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्रत्येक इन्द्रिय की क्षुधा पिपासा पृथक् होती है। उनके अनुरूप आहार से वे इन्द्रियाँ भी तृप्त हो

जाती हैं और उनके अधिष्ठात देव भी तृप्त हो जाते हैं। जिस भोग से इन्द्रिय अभिमानी देवता तृप्त होते हैं तो उनमें व्याप्त क्षुधा पिपासा भी इन्द्रियों के तृप्त होते ही शान्त हो जाती हैं। जीवों में जो क्षुधा पिपासा की प्रतीति होती है, वह इन्द्रियों के देवताओं की उपाधि से ही होती है। इन्द्रियाँ तृप्त हुई क्षुधा पिपासा जो उन इन्द्रियों के ही सम्बन्ध की होती है, शान्त हो जाती हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवताओं और क्षुधा पिपासा को स्थान मिल गया। अब इन सबके निर्वाह को अन्न कैसा कैसा हुआ, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अग्नि वाक् बनि प्रथम पुरुष के मुख में प्रविसे।
वायु प्राण बनि नाक सूर्य चक्षु नि में निवसे॥
दिशा श्रोत्र बनि कान औषधी त्वक् लोमहु बनि।
शशि मन बनि हिय माहिँ मृत्यु नाभी अपान बनि॥
नीर रेत बनि शिश्न में, भूख प्यास पैदा करीं।
घर याच्यो प्रभु देव घर-में ही ये दोऊ भरीं॥

लोक और लोकपालों का आहार अन्न

[८६]

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥१॥ सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥२॥*

(ऐ० उ० प्र० अ० ३ ख० १, २ मं०)

छप्पय

लोकपाल अरु लोक हेतु अन्न हु प्रकटायो।
सो भाखिवे भय भग्यो वाक् तैं रोक्यो चाह्यो॥
नहीं रुक्यो तब चक्षु, श्रोत्र, त्वक् मन अजमायो।
शिश्न परीक्षा करी अपान हु मुख अपनायो॥
प्रभु सोचें मो बिनु पुरुष, यदि इन्द्रिनि कारज करे।
तो हौं पुनि का काम को, प्रविसूँ तन जीवन भरे॥

भगवान् त्रित होकर इस जगत् को धारण किये हुए हैं, जड़, चैतन्य और इन सबके स्वामी। सत्त्व, रज, और तम। कर्ता, रक्षयिता और संहर्ता। अन्न, रस और भोक्ता। अन्न ब्रह्मा

* उस परमात्मा ने देखा कि लोक और लोकपाल तो रच गये अब इनके खाने के निमित्त मुझे अन्न की व्यवस्था और करनी चाहिये, तब उन्होंने जल आदि को तपाया। उन तपे हुए जलादि भूतों से एक मूर्ति उत्पन्न हुई, वह मूर्ति अन्न की ही थी।

है, रस विष्णु हैं और भोक्ता महेश्वर हैं। यह शरीर क्षेत्र है, जीव इसका स्वामी क्षेत्रपाल है, तथा क्षेत्र, क्षेत्रपाल का जो स्वामी है वही ज्ञेय है, जानने योग्य है। अन्न से ही सम्पूर्ण सृष्टि है, रस से सृष्टि बढ़ती है, रक्षित रहती है और अन्त में महेश्वर इस उत्पन्न हुई बढ़ी हुई सृष्टि को खा जाते हैं, संहार कर लेते हैं। प्रकृति का ही सब खेल है। प्रकृति ही जगत् को रचती है, किन्तु प्रकृति तो जड़ा है, वह अकेली जगत् रचना में सक्षम नहीं। अतः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये ही अष्टधा प्रकृति हैं। इसके अतिरिक्त चैतन्य रूपा परा नाम की दूसरी जीव रूपा भी शक्ति है। ये दोनों ही जगत् की उत्पत्ति में कारण हैं। इनके अतिरिक्त एक महाशक्ति है, जो सम्पूर्ण जगत् को धारण करती है। जीव रूप से तो भगवान् सबके हृदय प्रदेश में विराजमान हैं और वहाँ अन्तर्यामी रूप से परमेश्वर भी गुफा में सोते रहते हैं। सोते क्यों रहते हैं, इसलिये कि उनकी एक ज्ञान रूपा शक्ति है, जब वह सो जाती है, तो भगवान् भी प्रसुप्त की भाँति हो जाते हैं। वह शक्ति यदि उत्थित हो जाय, तो भगवान् भी जाग जाते हैं। वह प्रसुप्त शक्ति ही जीवों को नाना योनियों में घुमाती रहती है, जब वह जाग जाती है, तब संसार का आवागमन निवृत्त हो जाता है। वह ज्ञान रूपा शक्ति दशमद्वार से ब्रह्मरन्ध्र से-सुषुम्ना नाड़ी द्वारा पुरुष शरीर में प्रविष्ट होती है, और गुदा में जो सर्वप्रथम मूलाधारचक्र है, चतुर्दल वाला कमल है, उसकी कर्णिका में जो स्वयम्भू लिंग है, उसकी साढ़े तीन वलय लगाकर कुंडलाकार लिपटी हुई अपने मुख में अपनी पूंछ को दबाये प्रसुप्त पड़ी है। जब तक वह प्रसुप्त रहेगी, तब तक जीव का नाना योनियों में आगमन होता रहेगा। जिस समय यह जागकर पुनः जिस मार्ग से आई थी

उसी मार्ग से चढ़कर छओ चक्रों को पार करके मूर्धा में जो सहस्र दल कमल वाला सहस्रार चक्र है, वहाँ जाकर उसी ब्रह्मरन्ध्र में अपने शक्तिमान् से जाकर मिल जायगी तभी संसार बन्धन छिन्न-भिन्न हो जायगा। वह कुंडलाकार प्रसुप्त पड़ी रहती है, इसीलिये उस महाशक्ति का नाम कुंडलिनी शक्ति है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, मूलाधार में निवास करती है, करोड़ों विद्युत् के समान आभा वाली है, किन्तु स्वयम्भू लिंग से वेष्टित होकर सुप्त होने के कारण उसकी दीप्ति उसी प्रकार ढक-सी जाती है, जैसे राख से अग्नि ढक जाती है। उस महादेवी को प्राण मन्त्र से साधकगण उत्थापित करते हैं। जिस समय दृढ़ासन के द्वारा प्राणायाम से वह उत्थित होती है, तो जैसे सूर्य के उदय होने पर समस्त अन्धकार विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार उस भगवती महाशक्ति के उत्थित होने पर समस्त विघ्न बाधायें, अशेष संक्लेश, अनन्तानन्त अशुभ नाश हो जाते हैं। वह भगवान् की ज्ञानरूपा शक्ति ब्रह्मरन्ध्र से सुषुम्ना द्वार के द्वारा शरीर में प्रविष्ट होती है। उसके प्रविष्ट होते ही सुषुम्ना का द्वार ब्रह्मरन्ध्र बन्द हो जाता है। अतः योग द्वारा सुषुम्ना के पथ को परिष्कृत करना चाहिये। समस्त नाड़ियों की जननी सुषुम्ना को संशोधन करके उसे मल रहित निर्मल बनाना चाहिये तब कहीं जाकर शक्ति का शक्तिवान् से संयोग होगा। तब बिछुड़ी शक्ति पुनः आकर अपने इष्ट में मिलेगी।

अन्न जीवन भी देता है, साथ–ही–साथ मल की भी वृद्धि करता है। जब ऐसा हो जाय कि अन्न जीवन तो प्रदान करे, किन्तु मल निर्माण न करे, तो फिर संसार का बन्धन नहीं होता। बन्धन तो मल के ही कारण है। मल में जो दुर्गन्ध आती है उसका कारण यही है, कि नाड़ियाँ मलावृत्त हैं, वह तुरन्त मल

को बाहर नहीं फेंकती। मल आँतो की नाडियों मे ग्रन्थियाँ पडने के कारण रुका रहता है, सडता है, उसम दुर्गन्ध पेदा हो जाती है। मनुष्य केशर, कस्तूरी, कर्पूर केसी भी सुगन्धित वस्तुएँ खाय, वे सब आता मे मल बनकर सडकर दुर्गन्धयुक्त मल के रूप मे परिणित हो जाती हैं। यदि समस्त नाडिया शुद्ध हों, तो मल रुके नहीं। रुके नहीं तो सडे नहीं। सडे नहीं ता दुर्गन्धयुक्त न हो। तभी तो जिन योगिया की नाडियाँ विशुद्ध बन गयी हैं, उनके मल-मूत्र में दुर्गन्ध न होकर सुगन्ध आती है, उनके शरीर मे श्लेष्म आदि मल बढने नहीं पाते। उनके शरीर मे कभी भी किसी प्रकार का रोग नहीं होता, मन म भोग प्राप्त करने की वासना नहा उठती। मुखाकृति तेजपूर्ण हो जाती है, शरीर दमकने लगता है, वाणी में मधुरता आ जाती है, समस्त इन्द्रियाँ विशुद्ध हो जाती हैं। उनके मल म चन्दन से भी कई गुनी अधिक सुगन्ध आने लगती है। ऋषभदेव के मल की सुगन्धि दशयोजन ४० कोश तक जाती थी। इसी से कहते हैं, अन्न अमृत भी है और विष भी है। अज्ञानियों के लिये विष है, ज्ञानियों के लिये अमृत है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब समस्त लोका तथा लोकपालों का रचना हो गयी और भूख तथा प्यास की भी रचना हो गयी तथा भूख प्यास को इन्द्रियों क साथ रहने का स्थान मिल भी गया, तब परमात्मा ने सोचा—"मैंने लोक-लोकपालो की तथा भूख-प्यास की सृष्टि तो कर दी अब इनके लिये मुझे अन्न की सृष्टि और करनी चाहिये। जब तक इनकी भूख-प्यास की निवृत्ति के हेतु अन्न का व्यवस्था न करूँगा, तब तक काम चलने का नहीं। यह सोचकर भगवान् ने पृथ्वी पर जल को जमाया, फिर अग्नि जलाकर वायु की सहायता से आकाश में जल को तपाया। तपाने से उसमे क्रिया उत्पन्न हो गयी। वाष्प

बनकर हलचल प्रकट हुई। उससे एक मूर्ति उत्पन्न हो गयी। वही अन्न की सुन्दर सलोनी मनमोहिनी मनहारिणी मूर्ति थी। उसमें से सुगन्ध आ रही थी। अन्न उत्पन्न होते ही चारों ओर देखने लगा। यह बात उसकी बुद्धि में बैठ गयी कि लोग मेरी मनोहर मूर्ति को देखकर मुझे खा जायँगे। अतः जब तक मुझे कोई खा न जाय, तभी तक मैं नौ दो ग्यारह हो जाऊँ। यहाँ से भाग कर कहीं विजन वन में छिप जाऊँ। यह सोचकर वह मुट्ठी बाँध कर भागने लगा। भगवान् ने भूख-प्यास को तो पैदा कर ही दिया था और उसे किसी अकेले स्थान में पृथक् रहने को कोठरी भी नहीं दी थी। सब इन्द्रियों के साथ रहने को स्थान दे दिया था, अतः सभी इन्द्रियाँ भूख-प्यास से व्याकुल थीं। अन्न को देखकर सभी परम प्रमुदित हो रही थीं, किन्तु जब उन्होंने मुट्ठी बाँधकर अन्न को भगने के लिए उद्यत देखा, तब तो सबको बड़ी निराशा हुई। वाणी ने सोचा—"यह तो बना बनाया खेल बिगड़ना चाहता है, सभी गुड़ गोबर हुआ जाता है, यह सोचकर वाणी अन्न को खाने को झपटी, किन्तु वाणी बोल सकती है, अन्न को खाने योग्य उसका द्वार ही नहीं था। इच्छा करने पर भी वाणी अन्न को खाने में असमर्थ ही रही, उसे खा नहीं सकी। इच्छा रहने पर भी बिना भक्षण किये लौट आयी। वाणी बोलकर ही कहीं अन्न को ग्रहण करने में समर्थ हो जाती, तो आज अन्न को पैदा करने में, कूटने पीसने, बनाने खाने में इतना प्रयत्न न करना पड़ता। वाणी से 'अन्न' शब्द का उच्चारण करते ही तृप्ति हो जाती।

जब वाणी द्वारा आदि पुरुष अन्न को ग्रहण न कर सका तब प्राण जिस मार्ग से स्वाँग प्रश्वास के रूप में आते-जाते हैं, उस घ्राणेन्द्रिय से कहा—"तू ही इस अन्न को ग्रहण कर। घ्राणे-

न्द्रिय अन्न को ग्रहण करने दौडी किन्तु ग्रहण करने में समर्थ न हो सकी। घ्राणेन्द्रिय का काम सूँघना है। सूँघकर अन्न उदर में कैसे पहुँच सकता है, उससे समस्त इन्द्रियों की तृप्ति कैसे हो सकती है। सौभाग्य से यदि उस समय घ्राणेन्द्रिय अन्न को ग्रहण करने में समर्थ हो सकती, तो अन्न को नाना भाँति से बनाने आदि की आवश्यकता नहीं रहती, लोग सूँघकर ही अन्न से तृप्त हो जाते। बेचारी घ्राणेन्द्रिय भी बिना ग्रहण किये ही लौट आयी। तब उन्होंने नेत्र इन्द्रिय को प्रेरित किया। नेत्र इन्द्रिय अन्न को ग्रहण करने के निमित्त लपकी, किन्तु उसे ग्रहण न कर सकी। भला केवल देखने मात्र से समस्त इन्द्रियो की तृप्ति कैसे हो सकती थी। यदि उस समय आँखें अन्न को ग्रहण करने मे समर्थ हो सकतीं तो फिर अन्न को तैयार करने में इतने झंझट क्यों करने पडते। प्राणी नेत्रों के द्वारा अन्न को देखकर ही तृप्त हो जाते। इस कारण नेत्रेन्द्रिय द्वारा अन्न ग्रहण नहीं किया जा सका, वह लौट आयी।

तब उस आदि पुरुष ने अन्न को श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा पकडना चाहा, किन्तु श्रोत्र उसे पकड नहीं सके। केवल सुनने मात्र से समस्त इन्द्रियाँ तृप्त कैसे हो सकती थीं, यदि उस समय कानों द्वारा अन्न पकडा जा सका होता, तो फिर अन्न के लिये नाना प्रयत्न क्यों किये जाते। सभी प्राणी अन्न का नाम सुनते ही तृप्त हो जाते—चौका चूल्हे का सब झंझट ही समाप्त हो जाता, अतः कान उस अन्न को ग्रहण न करके लोट आये।

तब उसने सोचा—"स्पर्शेन्द्रिय से त्वचा द्वारा अन्न को पकड लें किन्तु त्वचा द्वारा अन्न पकड़ में नहीं आया। भला स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये हुए अन्न से समस्त इन्द्रियाँ कैसे तृप्त हो सकती है? यदि उस समय त्वचा द्वारा अन्न ग्रहण करना सम्भव हो

जाता, तो जीव अन्न को स्पर्श करके ही तृप्त हो जाते। न सात धातुएँ बनती और न नाना प्रकार के मलों का ही निर्माण होता, किन्तु त्वचा द्वारा अन्न पकड़ा ही न जा सका। अतः त्वक्-स्पर्शेन्द्रिय निराश होकर लौट आयी।

तब उस पुरुष ने मन द्वारा अन्न को पकड़ना चाहा किन्तु केवल संकल्प मात्र से सब इन्द्रियाँ कैसे तृप्त हो सकती थीं। यदि उस समय मन अपने प्रयत्न में सफल हो जाता—वह अन्न को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता—तो लोग अन्न का चिन्तन करके ही तृप्त हो जाते। यह बात न हो सकी। मन भी अपने प्रयत्न में असफल होकर लौट आया।

तब उसने शिश्नेन्द्रिय द्वारा अन्न को पकड़ना चाहा, किन्तु उपस्थ द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तृप्त कैसे हो सकती थीं। यदि उपस्थेन्द्रिय सफल हो जाती, तो मनुष्य अन्न का निसर्जन करके ही तृप्त हो जाते। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं हुआ अतः वह भी असफल होकर लौट आयी।

तब उस पुरुष ने अन्न को अपान वायु द्वारा मुख से ग्रहण करना चाहा, तो मुख में जाकर अपान वायु की सहायता से अन्न उदर में चला गया। उसके जाते ही, रस बनकर प्राण-वायु ने समस्त इन्द्रियों के पास उस रस को पहुँचा दिया। इससे सभी इन्द्रियाँ परितृप्त हो गयीं। यह युक्ति सफल सिद्ध हुई। हम जो नासिका द्वारा बाहर को वायु छोड़ते हैं उसे स्वास या प्राण कहते हैं। बाहर की वायु को भीतर उदर में ले जाते हैं, उसे प्रश्वास या अपान कहते हैं। प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान ये सब प्राणों के ही भेद हैं। भूख-प्यास प्राणों को ही लगती हैं। मुख से अपान वायु द्वारा जो अन्न उदर में जाता है, उससे प्राणों की तृप्ति के साथ-ही-साथ समस्त इन्द्रियाँ भी

तृप्त होती हैं। प्राणों द्वारा उन्हें भी आहार मिल जाता है। उदरस्थ
अन्न से ही मन बनता है। इससे सिद्ध हुआ प्राण ही मनुष्य
का जीवन है और प्राण अन्न द्वारा परितृप्त होते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब सृष्टिकर्ता परब्रह्म
परमात्मा ने समस्त लोकों की इन्द्रियों के गोलक, इन्द्रियाँ तथा
उनके अधिष्ठातृ देव, भूख, प्यास और अन्न की रचना तो
कर ली। लोकपालों सहित लोक रच गये,तब उन्होंने सोचा—"ये
सब उत्पन्न तो हो गये, किन्तु इन सब में मेरा भी तो कुछ भाग
होना चाहिये। यदि इस पुरुष ने मेरे बिना ही इन्द्रियों से काम
चला लिया, जैसे वाणी द्वारा भाव व्यक्त करने की क्रिया कर
ली, घ्राण इन्द्रिय द्वारा सुगन्ध दुर्गन्ध के सूँघने की क्रिया कर
ली, नेत्र द्वारा रूपों को देखने की क्रिया कर ली, कानों द्वारा
शब्दों को श्रवण करने की क्रिया कर ली, त्वग् इन्द्रिय द्वारा
शीत, उष्ण, सुखद दुखद स्पर्श के ज्ञान की क्रिया कर ली, मन
के द्वारा संकल्प विकल्प आदि मनन क्रिया कर ली, अपान की
सहायता से मुख द्वारा अन्न ग्रहण करने की क्रिया कर ली,
उपस्थेन्द्रिय द्वारा मूत्र तथा वीर्य विसर्जन की क्रिया कर ली, तब
मेरा,क्या उपयोग होगा ? मैं तो इस पुरुष के लिये अनुपयोगी ही
सिद्ध होऊँगा। इसलिये मुझे भी इसमें प्रवेश करना चाहिये।
फिर सोचा—"समस्त इन्द्रियों पर तो उनके अधिष्ठातृ देवों ने
अधिकार स्थापित कर रखा है। इस शरीर रूपी भवन में प्रवेश
के नौ ही द्वार हैं। नौऊ द्वारों पर अधिष्ठातृ देव बैठे हैं। मैंने
किसी द्वार से प्रवेश किया, और किसी ने आपत्ति की, तो झगडा
टटा बढ़ेगा। अतः इन नौ द्वारों के अतिरिक्त मुझे किसी मार्ग
से इस शरीर में प्रवेश करना चाहिये, इसी का सोच परमात्मा
करने लगे। सोच-विचार कर उन्होंने निश्चय किया—"मुझे इसके

भीतर प्रवेश करने को सबसे ऊपर अपना एक पृथक् दशम द्वार निर्माण करना चाहिये।" ऐसा सोचकर उसने इस मानव शरीर की अन्तिम सीमा को चीरकर-दोनों कपालों के बीच में द्वार करके-उस द्वार के ही द्वारा इसमें प्रवेश किया। यह द्वार चीरने से विदृति नाम से प्रसिद्ध है। विदीर्ण करके परब्रह्म इसमें प्रविष्ट हुए थे। इसे ही नानन्द भी कहते हैं। जीव को सर्वोत्तम आनन्द इसी में प्रविष्ट होने पर प्राप्त होता है। इस छिद्र से ब्रह्म ने इसमें प्रवेश किया। इसलिये इस दशम द्वार को ब्रह्मरन्ध्र भी कहते हैं। परमेश्वर की प्राप्ति के तीन ही स्थान हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वे तीन स्थान कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा-"पहिला आवसथ-स्थान-तो हृदयाकाश है। वह हृदय की गुफा जिसमें ईश्वर सबके हृदय देश में बैठा रहता है। दूसरा आवसथ-उपलब्धि स्थान-विशुद्ध आकाश है, जिसे परम धाम कहते हैं- जहाँ जाकर जीव फिर इस असार संसार में लौटकर नहीं आता। तीसरा उनकी उपलब्धि का-स्थान है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अणु परमाणु में व्याप्त हैं। इन तीन के ही आश्रय से ब्रह्म की उपलब्धि हो सकती है। अथवा उनके रहने के जाग्रत काल में इन्द्रियों का स्थान है दक्षिण नेत्र, २-स्वप्न काल में वह मन में रहता है, सुषुप्ति काल में हृदयाकाश में रहता है। जैसे उसके तीन निवास स्थान हैं, वैसे ही उसके तीन स्वप्न भी हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"स्वप्न क्या ?"

सूतजी ने कहा—"स्वप्न का अर्थ सोना।"

शौनकजी ने पूछा—"क्या परब्रह्म सोते भी हैं ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"सदा जाग्रत रहने वाले सोवेंगे

क्या ? यह तो व्यवहार की बात है, वे कभी सोते नहीं, किन्तु व्यवहार में उन्हें प्रसुप्त-सा कहा करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"फिर तीन स्वप्न कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीनों अवस्थायें अथवा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीनों ही उनके स्वप्न मात्र हैं।"

जब वह परम पुरुष दशम द्वार से ब्रह्मरन्ध्र द्वारा मनुष्य रूप में होकर भीतर घुसा तो उसने पञ्च महाभूतों को जगत् की रचना को देखा। चारों ओर आश्चर्य से निहारने लगा। ब्रह्माण्ड नायक पिंड में जाकर अपनी रचना पर स्वय ही मुग्ध हो गया। वह आश्चर्यचकित होकर सोचने लगा—यहाँ इस जगत् की रचना करने वाला दूसरा कौन है ? यह बड़ा ही सुन्दर कार्य है। कार्य का कोई-न-कोई कर्ता भी अवश्य होगा। तब उसने समस्त जगत् में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त घट-घट वासी अन्तर्यामी परम पुरुष को ही सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा के रूप में देखा। अर्थात् जो चैतन्यात्मा शरीर में प्रविष्ट होने से पुरुषाकार हो गया था। उसने सर्वान्तर्यामी परब्रह्म को ही वहाँ अनुभव किया। तब उसने आश्चर्यचकित होकर कहा—"अहा ! बड़े सौभाग्य की बात है मैंने परब्रह्म परमात्मा को देख लिया।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह तो गड़बड़ सड़बड़ सी हो गयी। बात हमारी समझ मे आयी नहीं। जिसने लोक, लोकपालों को, भूख प्यास को अन्न को, उत्पन्न किया, वह परब्रह्म कौन था ? यह जिसे पुरुष ने इन्द्रियों द्वारा अन्न को ग्रहण करना चाहा वह कौन था और जो ब्रह्मरन्ध्र से मनुष्य शरीर में प्रविष्ट हुआ वह कौन था ? और भीतर जाकर उसने सर्वान्तर्यामी पर-

ब्रह्म का साक्षात्कार किया वह कौन था ? और वह अन्तर्यामी भीतर कैसे घुस गया ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! गड़बड़ घुटाला नहीं है। रचने वाला सगुण ब्रह्म था, जिसने एक से बहुत होने की इच्छा की। फिर चैतन्य जीवात्मा रूप से उसने इन्द्रियों से अन्न को ग्रहण करना चाहा था। वह मनुष्य रूप में ही परमात्मा ने देह में प्रवेश किया। वही देहाभिमान से जीव बन गया। सर्वान्तर्यामी को द्वार की आवश्यकता नहीं थी। वह तो सब स्थानों में सब कालों में, सब में पहिले से ही बैठा रहता है। यह सब परमात्मा का खेल है, लीलाधारी की लीला है, परब्रह्म की माया का कौतुक है। वे स्वयं ही साध्य हैं, स्वयं ही साधक हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! माया है, लीला है, क्रीड़ा है, ये आपके ऐसे अस्त्र हैं, कि इसके सामने चुप ही हो जाना पड़ता है। हाँ तो आगे क्या हुआ ?"

सूतजी ने कहा—"अब आगे क्या होना था, जो होना था हो गया। भाव यह हुआ कि परमात्मा की प्राप्ति इस मानव शरीर से ही हो सकती है। जब मानव देह में जीवात्मा ने सर्वान्तर्यामी परमात्मा का साक्षात्कार किया तो इसीलिये इसका नाम 'इदन्द्र' हो गया। क्योंकि उसने कहा था (इदम्+द्रः=इदन्द्रम्)इसको मैंने देख लिया। इसलिये परमात्मा का एक नाम इन्द्र भी है। इन्द्र नाम से भी उस इदन्द्र को पुकारते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"'इदन्द्र' को इन्द्र नाम से क्यों पुकारते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ये देवता परोक्ष प्रिय होते हैं। (परोक्षप्रिया इ देवाः) इसलिये उन परमात्मा को इदन्द्र न कहकर इन्द्र नाम से पुकारते हैं। इसलिये इस जगत् को परब्रह्म की रचना

समझकर उनकी अनुकम्पा की प्रतीक्षा करो। उन्हीं पर सर्वात्म-भाव से निर्भर हो जाओ। इस संसार सागर से पार हो जाओगे। परमात्मा को पा लोगे, ब्रह्म का साक्षात्कार कर लोगे। इति।"

इस प्रकार ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम अध्याय का तृतीय खंड समाप्त हुआ। प्रथम अध्याय भी समाप्त हुआ। अब द्वितीय अध्याय में जैसे मनुष्य शरीर की उत्पत्ति का वर्णन किया जायगा, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

सब द्वारनि उच्छिष्ट समुझि मूर्धा कूँ फार्यो।
ब्रह्मरन्ध्र तैं घुस्यो विद्दति तिहि नाम पुकार्यो॥
आनँद को वह द्वार गुफाहिय परमधाम अरु।
यह समस्त ब्रह्माण्ड, थूल, सूछम, कारन वरु॥
तीन् स्वप्न आश्रय कहे, लखि रचना वर ब्रह्म कूँ।
अन्तर्यामी इन्द्र जो, कहिँ इदन्द्र परब्रह्म कूँ॥

इति ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम अध्याय का तृतीय
खण्ड समाप्त
प्रथम अध्याय समाप्त

मानव शरीर की उत्पत्ति

[६०]

पुरुपे ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रेतः तदेतद्-
सर्वभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं विभर्ति ।
तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥*

(ऐ० उ० द्वि० अ० १ म०)

छप्पय

जीव जगत में प्रथम पुरुष तन वीर्य रूप बन।
सब अंगनि उत्पन्न करै पुनि धारे निज तन॥
पुनि पतिनी में गरभ धरे यह प्रथम जनम है।
निज अंगनि सम पोसि मातु सब करै करम है॥
जनम भयो संस्कार सब, पिता करै कल्यान हित।
दूसर ताको जनम यह, आत्मा ही बनि जात सुत॥

---

* यह जीव पहिले पहिल पुरुष देह मे गर्भ (वीर्य) बनता है पुरुष यह जो रेत है वह इस पुरुष के समस्त अङ्गो से उत्पन्न होने वाला तेज है। इस अपने से उत्पन्न तेज को पुरुष प्रथम तो अपने शरीर में ही धारण करता है। तदनन्तर जब उसको स्त्री मे सिंचन करता है, तब इसको गर्भ रूप मे प्रकट करता है। गर्भ धारण होना यह जीव का प्रथम जन्म है।

एक अंधा जा रहा है, बहुत से अंधे उसके पीछे-पीछे चल रहे हैं। अंधा कुँआ में गिरता है, तो सभी अंधे उसके साथ कुएँ में गिर जाते हैं। यह पूछने का किसी को सावकाश नहीं कि जिसके पीछे-पीछे हम चल रहे हैं, उसे दीखता भी है या नहीं। कुछ लोग चल रहे हैं, उसके पीछे चले जा रहे हैं। इसे अंध-परम्परा कहते हैं। बिना समझे बूझे झुंड पीछे-पीछे चलते रहना संसार मे अंध परम्परा ही व्याप्त है। बाप बेटा को उत्पन्न करता है। वह यह नहीं जानता मैंने कैसे इस पुत्र को उत्पन्न किया ? वीर्य क्या है, इसका निर्माण कैसे होता है ? स्त्री क्या है, इसके शरीर में रज कैसे उत्पन्न होती है ? फिर दोनों के सयोग से गर्भ कैसे रहता है, वह कैसे बढ़ता है, अंगों की रचना कैसे होती है, कब किस समय कौन-सा अंग बनता है, कैसे इसमें प्राणों का सचार होता है, किस हेतु से यह उदर से बाहर होता है ? कैसे यह बढ़ता है ? शरीर के भीतर कहाँ-कहाँ कौन-कौन सी नसें नाड़ियाँ हैं, उदर में अन्न जाकर क्या बनता है, इस जीव का किसमें हित है किसमें अनहित है। इन बातों पर कोई भी विचार नहीं करता। सब आँख बन्द किये हुए एक दूसरे के पीछे चले जा रहे हैं। हमारे पिता ने हमारा विवाह किया था, अतः हमें भी अपने पुत्र पुत्रियों का विवाह करना ही चाहिये। माता पिता पर चाहे खाने को अन्न न हो, किन्तु पुत्र पुत्रियो का विवाह अवश्य होना चाहिये। विवाह के लिये ये व्यग्र विकल बने रहते हैं। अरे, भाई, तुमने ही विवाह करके कौन-सा गढ़ जीत लिया, तुमने ही विवाह करके कौन-सा सुख पा लिया। इन बातों को सोचने को उनको अवकाश नहीं। बस, एक ही धुनि। कैसे लड़की लड़को का विवाह हो ? विवाह हो गया, तो फिर बच्चे की धुनि। लड़के का विवाह हुए दो वर्ष हो गये, लड़की को पति

घर गये यह तीसरा वर्ष है। अभी तक बच्चा क्यों नहीं हुआ। वैद्य को दिखाओ, चिकित्सक बुलाओ, झाड़ फूँक कराओ, किसी से गडा तावीज दिलाओ। भूत, प्रेत, आऊत, पितरों को पूजो, देवी का मनौती मानों, चामुन्डा पर बलि चढाओ, भैरों बाबा को मनाओ लागुर जिमाओ, दुर्गा की जात लगाओ। जैसे भी हो लडका हो जाय, संतान का मुख देख सकें। क्या होगा इससे ? इसे कोई नहीं सोचता। अंध परम्परा है। अंधों के पीछे अंधे जा रहे हैं। इसी का नाम ससार-चक्र है। अरे भाई! कुछ सोचो, कुछ समझो, कुछ विचार करो। यह शरीर कैसे बना, इसमें क्या-क्या पदार्थ हैं, इसका सदुपयोग क्या है ? इससे कुछ सुकृत भी हो सकेगा या अन्न को मल बनाते बनाते ही इसका अंत कर दोगे। यदि यही बात है, तो मानव शरीर मे और सूकर कूकर के शरीरों मे फिर अन्तर ही क्या रहा ? अतः इस शरीर का परिचय प्राप्त करो, परिचय प्राप्त करके इसका सदुपयोग करो। अनित्य शरीर से नित्य वस्तु को प्राप्त करने का प्रबल प्रयत्न करो। यही साधन है। इसी में मानव शरीर की सार्थकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऋषियों ने वैराग्य उत्पन्न करने के निमित्त इस शरीर की अशुचिता, अनित्यता, दुःख बाहुल्यता का बार-बार वर्णन किया है। शास्त्र पुराणों मे दो ही मुख्यतया वर्णन के विषय हैं, एक तो विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और दूसरे मानव शरीर की क्षणभंगुरता और अनित्यता। विश्व ब्रह्माण्ड का वर्णन तो उपासना के निमित्त है। भगवान् का कहना यही है, यह सम्पूर्ण जगत् मेरा ही साकार शरीर है, अतः विश्व ब्रह्माण्ड में सर्वत्र मेरा ही दर्शन करो। मुझे छोड़कर संसार में और किसी को पृथक् भाव से अवलोकन मत करो। दूसरे जिस शरीर में तुम्हारी इतनी अधिक ममता है। उसे अशुचि, अनित्य, क्षण

भंगुर समझो। ये ही बातें बताने को पुनः-पुनः पिंड (देह) ब्रह्मांड (जगत्) का वर्णन किया गया है। पहिले यह जो मानव शरीर है, इसकी ही उत्पत्ति की गाथा सुन लीजिये। संतान पिता द्वारा उत्पन्न होती है। पिता के शरीर में सन्तान कैसे आती है? पहिले पिता के शरीर में यह वीर्य रूप से उत्पन्न होता है। वीर्य क्या है? हम जो भी अन्न खाते हैं, उसका पहिले रस बनता है। फिर रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और उन हड्डियों का भी सार वीर्य बनता है। वीर्य सबसे अंतिम सातवां धातु है। यह सभी अंगों का सार होता है। जैसे दही के अणु-अणु में नवनीत व्याप्त है, उसे मथने से सम्पूर्ण दही के सभी अंगों से सारभूत नवनीत पृथक् हो जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण अंगों से उत्पन्न यह तेज रूप शुक्र पिता के शरीर में पकता है। पहिले-पहिल स्वयं ही पिता इस वीर्यमय तेज को अपने ही शरीर में धारण करता है। जब उस वीर्य का पत्नी के गर्भाशय में सिंचन करता है, गर्भ का आधान करता है, तब उसे माता गर्भ रूप में धारण करती है। वीर्य का माता के गर्भाशय में आना यह इस वीर्याधान करने वाले पुरुष का प्रथम जन्म है।"

पहिले तो उस वीर्य रूप गर्भ को पिता ने धारण किया, फिर पिता से प्राप्त करके माता ने अपने उदर में धारण किया। माता के उदर में आने पर यह माता के आत्मभाव को प्राप्त हो गया। जैसे माता के हाथ पैर आदि अन्य अंग हैं वैसे यह गर्भ भी उसके शरीर का अंगभूत हो जाता है, माता को उसके धारण करने से विशेष कष्ट नहीं होता। यह गर्भ माता को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाता। माता उसे प्रसन्नतापूर्वक धारण करती है। माता के शरीर से रस प्राप्त करके यह गर्भ पालित पोषित होता है। पिता के अंगों के सारभूत माता के उदर में आये हुए

को माता इसकी प्रसन्नता पूर्वक देख-रेख रखती है। ऐसी स्त्री पति द्वारा पालन-पोषण करने योग्य है, पति को उसका सदा पालन करना चाहिये। ज्यों-ज्यों उसे माता के उदर से आहार प्राप्त होता जाता है, त्यों-त्यों वह उदर में वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। प्रसव के पूर्व तक वह उदर में ही बढ़ता रहता है, माता उसे धारण किय रहती है। जब दशवें मास में उसका जन्म हो जाता है, तब पिता भी उसके पालन पोषण में योग देता है, उसके जातकर्मादि संस्कार करता है। बालक की उन्नति के और भी अनेकों कार्य करता है। अपनी ही आत्मा पुत्र बनकर प्रकट होती है, इसका अर्थ यह हुआ कि वह पुत्र की उत्पत्ति उसका पालन क्या करता है मानो मानव संतति वृद्धि द्वारा अपनी ही उन्नति करता है। अपने ही वंश को—अपने ही आप को वह बढ़ा रहा है। गर्भ से बाहर होकर पिता द्वारा पालित पोषित होना मानो इसका द्वितीय जन्म है।

पुत्र क्या है, पिता का उत्तराधिकारी है, पिता की सम्पत्ति का, पिता के पुण्यादि कर्मों का—उसकी ही आत्मा होने से-उसके शुभ कर्मों के लिये उसका प्रतिनिधि बना दिया जाता है। पुत्र जब समर्थ हो जाता है, तब जिसका यह पुत्र प्रतिनिधि है वह पिता रूप द्वितीय आत्मा—अपने को पितृऋण से उऋण समझकर अपने को कृतकृत्य मानता है। चलो, मेरी वंश परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है। इस प्रकार पुत्र के कार्य भार सम्हाल लेने पर और अपनी आयु पूरी होने पर पिता मर जाता है। इस लोक का परित्याग करके अन्य लोकों में चला जाता है। फिर कर्मानुसार अन्य योनियों में पुनः उत्पन्न हो जाता है, वह इसका तीसरा जन्म है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ये तीन जन्म पिता के हुए या पुत्र के ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यहाँ पिता पुत्र की एकात्मता प्रदर्शित कर रहे हैं। पुत्र क्या है ? पिता की ही प्रतिकृति है। पिता की ही आत्मा है, पिता वीर्य रूप मे अपने भीतर अपने अंगो के सार वीर्य को धारण करता है। फिर उस वीर्य को पत्नी के गर्भ में आधान करता है, तो यह पिता ही का तो पहिला जन्म हुआ। जब वह माता के उदर से बाहर आया तो मानो वही तो अपनी पत्नी के पेट से पुनः उत्पन्न हुआ। इसीलिये स्त्री का नाम जाया है। अर्थात् जिसके उदर से पुत्र रूप मे स्वय ही उत्पन्न होता है। यह पुत्र रूप में पिता का ही दूसरा जन्म है। जब कृतकृत्य होकर मर जाता है तो दूसरी योनि मे वह फिर जन्म लेता है यह उसका तीसरा जन्म है। इस प्रकार यह शृङ्खला बनी ही रहती है। जन्म-मरण की परम्परा टूटती नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! यह शृङ्खला न टूटे तो कोई हानि है क्या ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन ! जन्म लेने मे तो दुःख ही दुःख है। नित्य माता के उदर में मल मूत्र के आलय में निवास करना कोई सुखकर कार्य है क्या ? इसमे लाभ ही क्या ? हानि-ही-हानि है। शरीर रूप पिंजडे मे जीव पडा रहे, जन्म मृत्यु की असंख्यों यन्त्रणाओं को बारबार झेलता रहे, इससे बढ़कर हानि और क्या होगी ? यह जन्म-मृत्यु का चक्कर छूट जाय, इस संसार बन्धन से मुक्ति मिल जाय, इसी के लिये मनुष्य को यत्न करना चाहिये। गर्भ में तो दुःख-ही-दुःख है। इसीलिये गर्भस्थ ऋषि ने इन दुःखो से भयभीत होकर कहा था।"

शौनकजी ने पूछा—"गर्भ में ऋषि कैसे चले गये ? गर्भ में उन्होंने क्या कहा था ?"

सूतजी ने कहा—"महर्षि वामदेव को माता के गर्भ में ही ब्रह्म का ज्ञान हो गया था, तभी उन्होंने इन जन्म-मृत्यु के दुःखों से दुखी होकर यह गाथा गायी थी, उन्होंने कहा था—"अहो! मैंने गर्भ मे रहते हुए इन शरीरस्थ देवताओं के बहुत से जन्मों का रहस्य भलीभाँति जान लिया है। मुझे नाना योनियों में गर्भ के भीतर सेकड़ों लोहे के सदृश कठोर शरीर रूप पिंजड़ों में अवरुद्ध करके-चारों ओर से घेरकर-बंद करके रखा गया था, इतने पर भी मैं उन शरीरों से प्यार करने लगा था, उनमे मेरी अत्यन्त आसक्ति हो गयी थी, मैं उन्हे त्यागना नहीं चाहता था। शरीर छोडते समय महान् कष्ट की प्रतीति होती थी, किन्तु अब मुझे ज्ञान हो गया है। अब मैं बाज पक्षी की भाँति उन समस्त पिंजड़ों को तोड ताडकर अत्यन्त ही वेग के साथ इन सब से पृथक् हो जाऊँगा।"

यह गाथा गर्भ मे ही ज्ञान होने पर वामदेव ऋषि ने गायी थी, उक्त वचन उन्होंने गर्भ से बाहर होने के पहिले कहे थे। क्योंकि गर्भ से बाहर होने पर बाहर की वायु लगने पर यह ज्ञान लुप्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वामदेव ऋषि कौन थे ?"

सूतजी ने कहा—"ये वामदेव ऋषि बड़े ज्ञानी थे। इन्होंने कहा है—आगामी प्रतिबन्ध एक ही जन्म मे प्रायः क्षीण हो जाता है, किन्तु राजर्षि भरत को प्रतिबन्ध क्षीण होने मे तीन जन्म लगे। ये वामदेव मुनि परमज्ञानी थे, माता के गर्भ में ही इन्हें ज्ञान हो गया था। वास्तव मे तो माता के गर्भ में आने पर मानव गर्भस्थ शिशु ही वामदेव ऋषि है। माता के गर्भ में जब यह

मानव जन्तु सातवें महीने में चेतन्य होता है। छठें महीने झिल्ली से लिपट कर दक्षिण कोख में घूमने लगता है और माता के उदर के मल-मूत्र के कीडे उसके अत्यन्त कोमल शरीर को भूख के कारण नोंचने लगते हैं, तब वह उस क्लेश के कारण मूर्छित हो जाता है। उस समय उसका सिर तो अपने पेट की ओर होता है तथा पीठ और गर्दन कुण्डलाकार मुडी रहती है। वह वामदेव बन जाता है। वह पिंजडे में बन्द पक्षी के समान पराधीन बना रहता है, अपने आप अङ्गों को भी हिला डुला नहीं सकता। तभी उसे अदृष्ट की प्रेरणा से स्मरण शक्ति प्राप्त हो जाती है। उसे अपने सैकडों जन्मों के कर्म स्मरण हो जाते हैं। तब वह वामदेव ऋषि गर्भ में ही भगवान् की स्तुति करता है।*

वह गर्भस्थ जीव जिसे माता के उदर में सातवें महीने में सैकडों जन्मों का स्मरण हो आता है, और वामरूप से उदर में झिल्ली से लिपटा माता की आँतों से घिरा हुआ पडा रहता है भगवान् व्यास ने उसी की ऋषि संज्ञा बतायी है। यही वामदेव ऋषि है। इस प्रकार सैकडों जन्मों के रहस्य को स्मरण करने वाला वह जीव रूप गर्भस्थ ऋषि इस शरीर का नाश होने पर-ज्ञान होने के कारण उत्पन्न होकर भी नीचे नहीं गिरा। भाग्यवश वह गर्भस्थ यातना को संसार में आकर भूल नहीं जाता। ऐसा ज्ञानी विद्वान् जीव संसार से ऊपर उठ जाता है, उसकी अधोगति न होकर ऊर्ध्वगति हो जाती है और वह उस दिव्य स्वर्गलोक को-परमधाम को-प्राप्त होता है, जिसमें समस्त कामनायें प्राप्त

---

* नाथमान ऋषिर्भीत सप्तवध्रि कृताञ्जलि ।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पित. ॥
(श्री० भा० ३ स्क० ३१ अ० ११ श्लो०)

हो जाती हैं- जहाँ जाकर फिर कोई संसारी कामना अवशेष ही नहीं रहतीं। वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। अमृत हो जाता है।" इति

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार एतरेय उपनिषद् के प्रथम अध्याय मे तो सृष्टि के रचने वाले परमात्मा का और उनके रचे ब्रह्माड का वर्णन किया और दूसरे अध्याय मे जीवात्मा की उत्पत्ति का वर्णन किया। अब तीसरे अध्याय में जेसे उपास्य आत्मा के विषय मे वतावेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। उसी मे यह ऐतरेय उपनिषद् समाप्त हो जायगी।"

छप्पय

सुत प्रतिनिधि करि मरै लेइ पुनि जनम तृतिय है।
गरभ बास दुख सह्यो कहे ऋषि-दुखद करम है॥
पिंजरा में अवरुद्ध तोरि तिहि प्रभु पुर जाऊँ।
परमधाम अति दिव्य जाइ तहँ पुनि नहिँ आऊँ॥
वामदेव ऋषि जानि सब, जग तैं ऊपर उठि गये।
सकल कामना प्राप्त करि, दिव्य अमर पुनि बनि गये॥

इति ऐतरेय उपनिषद् का
द्वितीय अध्याय समाप्त।

———

परम उपास्य-परब्रह्म

[६१]

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे । कतरः स आत्मा, येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥❀
(ए० उ० ३अ० १म०)

छप्पय

जिहि उपासना करें कौन वह है परमात्मा ।
जातें सूँघें सुनें लखें को है वह आत्मा ॥
हिय मन एकहिं कह्यो विविध हैं शक्ति सबहिंकी ।
ज्ञान, दृष्टि, विज्ञान, काम, क्रतु, असु है जिहिकी ॥
हैं उपास्य परमातमा, रक्षक, दाता, शक्तिप्रद ।
वे ही सुर, अज, भूत हैं, अंडज पिंडज, जीव सब ॥

जीवात्मा, परमात्मा और जगत् ये तीन हैं। जगत् तो दीखता है। चर चलने वाले पदार्थ, अचर नहीं चलने वाले पदार्थ। स्थावर एक स्थान पर बैठे रहने वाले, जंगम चलते-फिरते रहने

❀ जिसकी उपासना हम लोग करते हैं, वह आत्मा कौन है और वह कौन है, जिससे देखते हैं, सुनते हैं, गन्धों को सूँघते हैं, जिससे वाणी को स्पष्ट बोलते हैं, स्वादयुक्त अस्वादयुक्त वस्तुओं को पृथक्-पृथक् जानते हैं ।

वाले जितने भी पदार्थ हैं, सब जगत् के अन्तर्गत हैं। जो दिखायी दे, अनुमान से, मन से जिसका अनुभव हो, सब जगत् के अन्तर्गत हैं। अब न तो जीवात्मा ही दिखायी देता है और न परमात्मा ही। शास्त्र कहता है—"आत्मा की उपासना करनी चाहिये।" तब प्रश्न यह उठता है—"किस आत्मा की उपासना करें? जीवात्मा की या परमात्मा की।"

अब विचार करना है, आत्मा की उपासना की आवश्यकता क्या है? उपासना की जाती है, दुःख की निवृत्ति तथा परमानंद की प्राप्ति के हेतु। इस पर विचार करते हैं दुःख क्या है? १–इच्छा, २–द्वेप, ३–भय, ४–मोह, ५–क्षुधा, ६–तृपा, ७–निद्रा, और ८–मलमूत्र की पीड़ा ये ही आठ दोप हैं, इन्हीं के द्वारा पीड़ा होती है। शारीरिक रोग या दोप–जो वात, पित्त और कफ की विपमता के कारण होते हैं वे–ऋपियों द्वारा बतायी हुई आयुर्वेदिक चिकित्सा द्वारा शान्त भी किये जा सकते हैं, किन्तु उपर्युक्त आठ दोप अचिकित्स्य हैं, इनकी निवृत्ति तो उपासना द्वारा–ब्रह्मज्ञान से ही संभव है। जैसे आठों में से इच्छा को ही ले लें। पहिला दोप इच्छा है।

१–इच्छा–तीन प्रकार की होती है। जो सात्त्विकी प्रकृति के पुरुप हैं, उनकी इच्छा भी सात्त्विकी होती है, जैसे देव पूजन, भगवद्दर्शन, संसार से विमुक्त होने की इच्छा, आत्मबोध प्राप्त करने की इच्छा, जन्म-मरण के चक्कर से छूटकर मोक्ष कैसे मिले। जो लोग राजसी प्रकृति के होते हैं, उनकी इच्छा भी राजसी होती है। जैसे अच्छे-अच्छे राजसी भोगों को भोगने की इच्छा, राजसी ठाठ-बाठ से जीवन बिताने की इच्छा। साथ-ही-साथ कभी-कभी मोक्ष की भी इच्छा उत्पन्न होती है। किन्तु जो तामसी प्रकृति के पुरुप हैं, उन्हें मोक्ष की इच्छा नहीं होती।

केवल विषयों की ही इच्छा उन्हे रहती है। निद्रा, आलस्य और प्रमाद की ही उनकी इच्छा सदा बनी रहती है। इच्छा जीव मात्र को होती है इसी प्रकार द्वेष भी दोष है।

२-द्वेष-भी तीन ही प्रकार का होता हे। सात्विक प्रकृति के पुरुष भी द्वेष करते हैं, किन्तु उनका द्वेष बुरे कार्यों से, प्रमाद आलस्य से तथा ससारी विषयो स होता है। राजस लोग नरकों से यमराज से तथा दडादि से द्वेष करते हैं और तामस पुरुषों का द्वेष शुभकर्मो से, शुभकर्म करने वाले सत महात्माओं से तथा अपने बन्धु बान्धवों से होता है। जीव मात्र कोई भी द्वेष से बचा नहीं।

३-भय-भय भी तीन ही प्रकार का होता हे। सत्त्व प्रकृति के पुरुष अधर्म से भयभीत रहते हैं, हमसे कोई धर्म विरुद्ध कार्य न होने पावे। प्रमादादि दुष्कर्मों से भी डरते रहते हैं कि कभी असावधानी स भी हमसे दुष्कर्म न बन जायँ। जो राजसी प्रकृति के पुरुष हैं वे नरको से, दडधर यमराज से भयभीत रहते हैं और तामसी प्रकृति के पुरुष याचकों से, राजकर्मचारियों, अधिकारियों से, चोर तथा दुष्ट पुरुषों से और राजा से भयभीत बने रहते हैं। भय प्राय· प्रत्येक जीव को थोड़ा बहुत लगा ही रहता हे। भय के बिना कोई बचा ही नहीं रह सकता। इसी प्रकार मोह की भी बात हे।

४-मोह-मोह भी तीन प्रकार का होता हे। जो सात्त्विकी प्रकृति के पुरुष हैं उन्हे तो इस बात का मोह हे कि शुद्ध बुद्ध आत्मा में अज्ञान का प्रवेश कैसे हो गया ? जो राजसी प्रकृति के पुरुष हैं, उनका शास्त्र से मोह, विद्या में मोह तथा आत्मा क अज्ञान मे मोह और जो तामसी प्रकृति के पुरुष हैं उन्हे देह मे

मोह, गेह में मोह, देह गेह के सम्बन्धियों में मोह, विषयों में अज्ञानजन्य मोह, मोह जीव मात्र को होता है।

५–क्षुधा भूख तो सभी को लगती है चाहें सात्त्विक हो, राजस अथवा तामस। भूख की पीड़ा सभी को दुःख देती है। और व्याधियाँ हटायी जा सकती हैं, किन्तु क्षुधा बहुत ही कठिन रोग है। स्त्री, विनिधरत्न, वस्त्र, आभूषण, भूखे आदमी को कुछ भी अच्छे नहीं लगते। जैसे कूप, तालाब, के जल को सूर्य की किरणें सोख लेती हैं ऐसे ही जठराग्नि अन्न न मिलने पर शरीरस्थ सभी धातुओं को सोख लेती हैं। भूखा आदमी कौन सा पाप नहीं कर सकता। अन्न न मिलने पर समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं।

६–तृषा–इसी प्रकार तृषा या पिपासा भी दुःखद दोष है। प्राणों के व्यापार से जब कंठ सूख जाता है तब प्यास लगती है। प्यास में पेय पदार्थ न मिले तो प्राणी मात्र को असह्य पीड़ा होती है।

७–निद्रा–निद्रा भी सभी जीवों के लिये आवश्यक है। निद्रा न आने पर या सोने का अवसर प्राप्त न होने पर सभी को दुःख होता है।

८–मलमूत्रादि की पीड़ा—चाहें सात्त्विक प्रकृति का हो राजस या तामस मलमूत्र उत्सर्ग करने की आवश्यकता सभी को होती है। इसके उत्सर्ग का अवसर न आने पर सभी को कष्ट होता है।

ये जैव धर्म हैं। ये दोषाष्टक जीव मात्र को होते हैं। ये अपरिहार्य हैं, अचिकित्स्य हैं, इनकी निवृत्ति आत्मज्ञान के बिना सम्भव नहीं। ये दोष जीवों में ही हैं। परमात्मा इन दोषों से सर्वथा निर्मुक्त है। अतः इन दोषों की निवृत्ति के हेतु और परमानन्द

की प्राप्ति के निमित्त जीवात्मा को ही परमात्मा की उपासना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्मवेत्ताओं की एक सभा में इसी बात पर विमर्श हुआ कि उपासना किसकी करनी चाहिये। एक ऋषि ने प्रश्न किया—"वेद का वचन है, आत्मा ही उपासना करने योग्य है। तो यह आत्मा उपास्य है" ऐसा कहकर हम जिसकी उपासना करते हैं वह आत्मा कौन है? यह एक बात हुई। दूसरी बात पुरुष जिसके द्वारा रूपो को देखता है, जिसके द्वारा शब्दों को श्रवण करता है, जिसके द्वारा सुगन्ध दुर्गन्धों को सूँघता है, जिसके द्वारा वाणी से वाक्यों को सुस्पष्ट बोलता है, वार्तालाप करता है, जिसके द्वारा खट्टे मीठे, चरपरे आदि पदार्थों को यह स्वादिष्ट है, यह स्वाद रहित है, अस्वादु है, इन बातों की पृथक् पृथक् जानकारी करता है वह आत्मा कौन है?"

इस पर एक ऋषि ने कहा—"ये सब बातें हृदय से उठती हैं।"

दूसरे ने कहा—"नहीं, मन से उठती हैं। मन ही बन्धन तथा मोक्ष का कारण है।"

तीसरे ने कहा—"देखो, नीर, पय, जल, पानीय शब्दों का ही भेद है, वास्तव में वस्तु एक है। इसी प्रकार यह जिसे हृदय कहते हैं, वही मन भी है। इसी का नाम बुद्धि भी है, जिससे सम्यक् ज्ञान शक्ति प्राप्त होती है। ये सब आत्मा से ही होते हैं। किसी को जो आज्ञा दी जाती है, वह भी आत्मा की ही शक्ति है। अधिक क्या कहे, विज्ञान की शक्ति, प्रज्ञान—तत्क्षण जानने की शक्ति, मेधा शक्ति, देखने की दृष्टि शक्ति, धृति—धैर्य धारण की शक्ति, मति-बौद्धिक शक्ति, मनीषा-मनन करने की शक्ति, जूति—वेग के साथ किया करने की शक्ति, रोगादि निवृत्त दुःख

निवारण शक्ति, स्मृति–स्मरणशक्ति–, संकल्प शक्ति, क्रतु–नाना प्रकार के मनोरथों को करने की शक्ति– असु–प्राण शक्ति– काम–विविध भाँति की कामनाओं की शक्ति–वश–मैथुनादि करने की अभिलाषा इनके अतिरिक्त और भी जो-जो क्रियायें हैं ये सब-की-सब प्रज्ञान स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के ही नाम धेय हैं। अर्थात् जितने भी ये नाम हैं सब हृदयस्थ आत्मा के ही नाम है। परमात्मा इन अन्तःकरण की वृत्तियों से भिन्न हैं। चैतन्यांश जीवात्मा के ही सज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, सकल्प, क्रतु, असु, काम और वश ये नाम हैं। उपाधि विनिर्मुक्त परब्रह्म परमात्मा जो परमोपास्य हैं वे इस जीवात्मा से पृथक् हैं।"

एक ऋषि ने पूछा—"वह परमात्मा क्या करता है ?"

दूसरे ने कहा—"उसमें करना कराना कुछ बनता नहीं। वह तो सब के साक्षी रूप से स्थित है। उसी की सत्ता द्वारा समस्त कार्य हो रहे हैं। जैसे भवन मे दीपक जल रहा है, उसके प्रकाश में पुण्य करो, पाप करो, दीपक सब का साक्षी है, वह पुण्य पाप से परे है, किन्तु हो रहा है सब उसी के साक्षित्व में। सर्वव्यापी होने से वह सब मे है और सब उसी की सत्ता से सत्तावान् हैं तथा सभी नाम भी उसी के हैं। वह प्रज्ञान रूप आत्मा ही ब्रह्म है। इन्द्र, प्रजापति, समस्त देव, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल तथा तेज सब इसी के नाम हैं। यही क्षुद्र, मिश्रित बीज रूप से समस्त प्राणियो के रूप मे है। इनसे भिन्न दूसरे अंडज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज, घोडा, गाय, हाथी, मनुष्य तथा और भी जो कुछ है, ये सम्पूर्ण जगत् परों वाले आकाश में उड़ने वाले, भूमि पर चलने वाले जंगम, एक ही स्थान में जमे रहने वाले स्थावर, समस्त प्राणियों का समुदाय सब उन प्रज्ञानेत्र-

प्रज्ञान स्वरूप परब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं। अन्तर्यामी रूप से वे सब में व्याप्त हैं, सब उन्हीं मे अवस्थित हैं। इन सब की प्रतिष्ठा का आधार प्रज्ञान ब्रह्म ही है।"

दूसरे ऋषि ने कहा—"जब तक इस जीवात्मा का देहादि में आत्मभाव है, तब तक वह अज्ञान में फँसा जीव है। जब उपासना द्वारा समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त सबके साक्षी सर्वगत परब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान कर लेता है, वह वामदेव ऋषि के सदृश अमर हो जाता है। जिन वामदेव ऋषि को गर्भ में ही ज्ञान हो गया था, वे इस लोक से ऊर्ध्वगति को प्राप्त करके उस दिव्य स्वर्ग रूप परमधाम को प्राप्त होकर इस प्रज्ञान स्वरूप ब्रह्म के सहित, समस्त, दिव्य भोगों को प्राप्त करके अमर हो गये।"

सूतजी कहते हैं "मुनियो! इस प्रकार यह ऐतरय उपनिषद् समाप्त हो गयी। आगे में छान्दोग्य उपनिषद् के अर्थ को आपसे कहूँगा। जिसमें परब्रह्म के विषय में निरूपण किया गया है। अब यह ऋग्वेदीय ऐतरेय उपनिषद् तृतीय अध्याय और साथ ही यह उपनिषद् भी पूरी हो गयी।"

छप्पय

अंडज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज जीव सकल जे।
अश्व, गाय, गज पुरुष जगत में अचर सचर जे॥
थावर जंगम प्राणि सबहिं प्रज्ञान रूप हैं।
ब्रह्म प्रतिष्ठित निखिल सबनि साक्षी स्वरूप हैं॥
वामदेव ऋषि ज्ञान तैं, तजि लोकहिं स्वर्गहिं गये।
दिव्य भोग पाये सकल, नित्य अमर ते बनि गये॥

इति ऋग्वेदीय ऐतरय उपनिषद् का तृतीय अध्याय समाप्त
ऐतरेय उपनिषद् सम्पूर्ण।

शांति पाठ

प्रणव ! वाक मम होहिँ प्रतिष्ठित मन के भीतर।
मन मेरो है जाय प्रतिष्ठित वाणी अन्दर॥
परमेश्वर ! मम हेतु प्रकट तुम हू है जाओ।
मन वानी ! मम हेतु ज्ञान वेदनि को लाओ॥
सुने वेद मम तजहिँ नहिँ, पढ़िवे निशि दिन सम करूँ।
श्रेष्ठ वचन मुखतें कहूँ, सत्य सदा भाषन करूँ॥

छान्दोग्य-उपनिषद्-ओंकार महिमा

[६२]

शान्ति पाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्व-निराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥*

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

छप्पय

मेरे जितने अङ्ग वाक अरु प्रान श्रोत जो ।
इन्द्रिय सबरी कर्म ज्ञानमय बल वीरज सो ॥
ब्रह्म उपनिषद् सर्व हमें सबई आ जावें ।
हम नहिं छोड़ें ब्रह्म ब्रह्म हमकूँ अपनावें ॥
कहे उपनिषद् धर्म जे, ते सब मो में नित रहें ।
भौतिक दैविक आतमिक, शान्ति शान्ति के हित कहें ॥

---

* हे प्रभो ! मेरे अंग, प्राण, नेत्र, श्रोत, सब इन्द्रियाँ और बल परिपुष्ट हों । जो यह उपनिषद् प्रतिपादित ब्रह्म है, मैं उस ब्रह्म को अस्वीकार न करूँ । तथा वह ब्रह्म भी मुझको अस्वीकार न करें । ब्रह्म के साथ मेरा सम्बन्ध सर्वदा बना रहे । मेरे साथ उस ब्रह्म का भी अटूट

समस्त वेद शास्त्रों में ओंकार की सबसे अधिक महिमा गायी गयी है। ऋक् यजु और साम इन तीनों को वेदत्रयी कहते हैं, अथर्ववेद इनके ही अन्तर्गत हैं। ऋक् शब्द का अर्थ है जिसके द्वारा देवताओं की स्तुति की जाय (ऋच्यन्ते-स्तूयन्ते देवा अनया इति=ऋक्) जहाँ अर्थवश द्वारा पादव्यवस्थिति हो। अर्थात् जिसके अक्षर, पाद और परिसमाप्ति एक नियत संख्या के अनुसार होती हो। जैसे अनुष्टुप छन्द है। इसमें इतने अक्षर होंगे, इतने पाद होंगे। अर्थात् जिसकी ऋचायें छन्दोवद्ध हों, वह ऋकवेद है। दूसरा यजुर्वेद है। यजु शब्द का अर्थ है जिसके द्वारा यजन पूजन किया जाय (इज्यतेऽनेन इति=यजुः) ऋकवेद और सामवेद से जो अवशिष्ट ऋचायें हैं वे यजुर्वेद की ऋचायें हैं। इनमें अक्षर आदि की कोई नियत संज्ञा या क्रम न हो, गद्य-पद्य सभी का समावेश हो जाता हो। ऋग्वेद की ऋचाओं में छन्दोवद्ध नियम क्रम के अनुसार हुआ करती हैं, उन ऋकवेद के छन्दोवद्ध मन्त्रों में जो गीत प्रधान हैं—जो एक नियत ताल स्वर में गाये जा सकते हों उनकी 'साम' संज्ञा है। साम मंत्रों के गान द्वारा विभिन्न देवताओं की गाकर स्तुति की जाती है। यह जो छान्दोग्य उपनिषद् है यह सामवेदीय ही उपनिषद् है। सामवेद के ब्राह्मण भाग में एक तलवकार ब्राह्मण है। इसके छान्दोग्य ब्राह्मण में दश अध्याय हैं। उनमें से पहिले और दूसरे अध्याय को छोड़कर जो शेष आठ अध्याय रह जाते हैं, उन्हीं का नाम छान्दोग्य उप

सम्बन्ध हो। उपनिषद् प्रतिपादित जो धर्म हैं, उस परमात्मा में निरत वे सब मुझमें भी हों। वे सब मुझमें भी हों त्रिविध तापों की निवृत्ति हो। ॐ शान्तिः! शान्ति.!! शान्ति.!!!

निषद् है। इसका शब्दार्थ है जो लोग छन्दों का गान करते हैं, उनका जो आम्नाय है, धर्म है वही छान्दोग्य है (छन्दोगानां धर्मः अम्नायो वा इति=छान्दोग्य) यह उपनिषद् बृहदारण्यक को छोड़कर सबसे बड़ी उपनिषद् है। इसमें जैसा कि अन्य सभी उपनिषदों मे तत्त्वज्ञान का ही वर्णन होता है, इसमे कर्मकांड तथा उपासना का भी वर्णन आता है। इसमे बडी सुन्दर-सुन्दर शिक्षाप्रद आख्यायिकायें भी है, जिनका वर्णन यथा स्थान किया ही जायगा। इसके आठ अध्याय खण्डों में विभक्त हैं, जैसे प्रथम अध्याय के तेरह खण्ड हैं। द्वितीय अध्याय के २४, तृतीय अध्याय के १९, चतुर्थ के १७, पचम के २४, षष्ठ के १६, सप्तम के २६, और अष्टम के १५ इनमे से प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड मे सर्वप्रथम ओंकार की ही महिमा गायी गयी है। पीछे जो हम केन उपनिषद् का अर्थ कह चुके है, वह भी सामवेदीय तलवकार शाखा की ही है। दोनों का शान्ति पाठ भी एक ही है। अतः इस शान्ति पाठ का भावार्थ तो हम केन उपनिषद् के प्रसंग मे कर ही चुके हैं, अतः अब इसकी कथा ओंकार की महिमा से ही आरंभ करते हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! अब मैं छान्दोग्य उपनिषद् के भावार्थ को आप से कहूँगा। मुझमें न तो साम के मन्त्रो के गायन की सामर्थ्य ही है, न इसमे मेरा अधिकार ही है, मैं तो केवल आपको इसके भावो को ही सुनाऊँगा। ओंकार ही सर्वश्रेष्ठ उपास्य है, अतः ॐ रूप यह अक्षर उद्गीथ है।"

शौनकजी ने पूछा—"उद्गीथ क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप सब जानते हैं। नित्य ही यज्ञ करते-कराते रहते हैं। यज्ञो में ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु ये चार ऋत्विक् प्रधान होते हैं। इनमें जो सामवेद

उच्च स्वर से गान करता है, वह उद्गाता कहलाता है (उद्गायति य सामवेद स उद्गाता)। वह उद्गाता आरम्भ में जिस प्रणव का उच्चस्वर से गान करे उसी का नाम उद्गीथ है (उत् उच्चर्गीयते उत+गे उद्गीथः) सामवेद की ध्वनि का नाम उद्गीथ है। उपनिषद्कार कहते हैं यह जो उद्गीथ-शब्द-वाच्य प्रणव है इसी प्रणव की परब्रह्म रूप से उपासना करनी चाहिये।'

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! प्रणव तो शब्द है, निराकार है, अमूर्त है, इसकी उपासना कैसे की जा सकती है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! परमात्मा तो अमूर्त ही हैं। मन्त्र ही उन अमूर्त की मूर्ति है। अतः प्रणव ही उपास्य है। यज्ञों में जो भी उच्चारण करते हैं, सर्वप्रथम प्रणव का ही उच्चारण करते हैं। उद्गाता ॐ का ही सर्वप्रथम ऊँचे स्वर में गायन किया करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"उस ओंकार का भाव क्या है? उसकी व्याख्या कृपा करके करें?"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, भगवन्! अब आगे ॐ की ही व्याख्या की जाती है। जितने संसार में स्थावर-जंगम, चर अचर जीव हैं, उन सब का आधार क्या है?"

शौनकजी ने कहा—"समस्त चराचर जीवों का रस कहो-आधार कहो, पृथ्वी है।"

सूतजी ने कहा—"सत्य कहते हैं, भगवन्! पृथ्वी गन्धवती होती है, सब पृथ्वी के रसों को ही सूँघकर सुगन्धि दुर्गन्ध का ज्ञान करते हैं। समस्त चराचर जीव पृथ्वी के ही सहारे रहते हैं। सब का आधार या रस (रसतीति+रसः अथवा रस्यते इति=रसः) रस धातु आस्वादन अर्थ में प्रयुक्त होती है। सभी पृथ्वी

से उत्पन्न रसों का आस्वादन करते हैं। अतः चराचर जीवों का-समस्त प्राणियों का-सभी भूतों का पृथ्वी ही रस है। अब पृथ्वी का रस क्या है ?"

शौनकजी ने कहा—"पृथ्वी जल से उत्पन्न हुई है, अतः पृथ्वी का आधार या रस अथवा कारण जल है।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आपका कथन यथार्थ है, पहिले जल-ही-जल था, तब जल से पृथ्वी हुई। पृथ्वी का आधार कारण या रस जल है। अब जल का आधार क्या है ?"

शौनकजी ने कहा—"पृथ्वी पर जल के द्वारा तो औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। औषधियों का आधार जल ही है। जल न मिलें तो सभी औषधियाँ सूख जायँ। औषधि-अन्न-खाने को न मिले, तो सभी प्राणी मर जायँ। अतः अपधियों की उत्पत्ति, स्थिति जल के ही अधीन है, अतः जल का रस सभी औषधियाँ ही हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन ! यथार्थ बात यही है। पृथ्वी पर जल के ही सहारे औषधियाँ होती हैं, अब औषधियों का रस-आधार या परिणाम क्या है ?"

शौनकजी ने कहा—"औषधि खाने से रस बनता है, रस से अन्य ६ धातुएँ बनती हैं, उसी से पुरुष की उत्पत्ति स्थिति होती है, अन्त में उसी मे लय भी हो जाता है, अतः औषधि का रस पुरुष है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! आप सत्य कह रहे हैं। प्राण अन्न के ही सहारे पर रहते हैं। अन्न न मिले तो पुरुष मर जायँ। अब बताइये पुरुष का सार क्या है ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! पुरुष का रस तो वाणी है। यदि सुन्दर वाणी न हुई तो पुरुष नीरस ही है।

वाणी से ही सुकुल दुष्कुल का बोध होता है। कोयल कौआ एक डाल पर बैठे रहते हैं। दोनों की तब तक पहिचान नहीं होती जब तक बोलते नहीं। कोयल की वाणी रसीली होती है, कौए की कर्कश। अतः पुरुष का रस वाक् है, वाणी है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यथार्थ कह रहे हैं। इन्द्रियाँ तो दश हैं, किन्तु वाणी को सबसे अधिक प्रधानता दी जाती है, पुरुष के समस्त अवयवों में वाणी ही सब से अधिक सार वस्तु है। अब वाणी का रस क्या है?"

शौनकजी ने कहा—"वाणी का रस तो वेद है। वेद के बिना वाणी व्यर्थ है। वेदों में भी सर्वप्रथम वेद ऋक्वेद है। क्योंकि उसमें अक्षर पाद समाप्ति की नियत संख्या रहती है। उच्चारण करने में रस आता है।"

सूतजी ने कहा—"अच्छा, ऋक्वेद से भी रसीला वेद कौन है?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह भी कोई पूछने की बात है। रसीला वेद तो सामवेद ही है, जिसके गायन को सुनकर रोम रोम खिल उठते हैं। भगवान् का स्वरूप ही है, भगवान् ने कहा भी है (वेदाना सामवेदोऽस्मि) में वेदों में सामवेद हूँ।"

सूतजी ने पूछा—"सामवेद का भी रस–उसका भी सार क्या है?"

शौनकजी ने कहा—"सब का सार तो प्रणव है। प्रणव से ही समस्त वेदों की उत्पत्ति हुई है। इसीलिये सामवेद के उद्गाता इस प्रणव रूप उद्गीथ का सर्वप्रथम गायन करते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने स्वयं ही प्रणव को सब का सार रसरूप सिद्ध कर दिया। यह प्रणव सभी रसों से परमोत्कृष्ट

रस है। यह अष्टम रस उद्गीथ ही परमात्मा का प्रतीक है, उसका वाचक है।"

शौनकजी ने पूछा—"ऋक् कौन-कौन-सा है ? कौन-कौन सा साम है और कौन-कौन-सा उद्गीथ है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वाणी ही ऋक् है, प्राण साम है और यह ॐ ही उद्गीथ है।"

शौनकजी ने पूछा—"वाणी और प्राण तो परस्पर मिले हुए हैं। प्राण के बिना वाणी संभव नहीं। इसी प्रकार ऋक् की ही ऋचाओं में से गायन करने वाली ऋचायें साम कहलाती हैं। उनसे गाया हुआ प्रणव है। इनको पृथक्-पृथक् कहने का क्या अभिप्राय है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! जैसे पुरुष की स्त्री पूरक है, स्त्री का पुरुष पूरक है, उसी प्रकार ऋक् का साम और वाणी का प्राण ये परस्पर में एक दूसरे के पूरक हैं। जब ये दो मिथुन होते हैं, दोनों मिल जाते हैं, तो परस्पर में एक दूसरे की कामना की पूर्ति करते हैं। दोनों के सयोग से सुत की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार वाक् और प्राण का जोडा परस्पर में मिथुन होकर-मिलकर ओंकार में प्रयुक्त किया जाता है, तब वह प्रयुक्त करने वाला उपासक प्रणव की उपासना करने पर कृतकृत्य हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। यह ओंकार सम्पूर्ण कामनाओं का पूरक तो है ही अनुज्ञा सूचक भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! प्रणव अनुज्ञा सूचक कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे लोक भाषा में कोई पूछे— आप जल पीयेंगे ? तो जल पीने की इच्छा वाला स्वीकृति में 'हाँ' कह देगा। ऐसे ही वैदिक भाषा में कोई किसी से अनुमति माँगे तो

देने वाला 'ओम्' कह कर ही अनुमति देता है। शिष्य पूछता है—"मैं वन से समिधा ले आऊँ ?" तो आचार्य कहते हैं—'ओम्' अर्थात् ले आओ। आचार्य शिष्य से पूछते हैं-"तुम भिक्षा कर लाये ?" शिष्य कहता है—"ओम्" अर्थात् हाँ मैं भिक्षा कर लाया। इस प्रकार किसी से कुछ पूछने पर वह जो अनुमति देता है, स्वीकृति प्रदान करता है वही अनुज्ञा है। यह अनुज्ञा ही समृद्धि है, बडप्पन है, शिष्टों का आचार है। जो इस प्रकार प्रणव रूप उद्गीथ इस अक्षर की उपासना करता है, उसकी समस्त कामनायें समृद्ध होती है, स्वीकृत होती हैं। ओंकार निश्चय ही समस्त इच्छाओं की समृद्धि में हेतु है। यह ओंकार माङ्गलिक भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"माङ्गलिक कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"ऋक्, यजु और साम इन तीनों को त्रयी विद्या कहते हैं। आप चाहे ऋक्वेद का पाठ करें, चाहें यजुर्वेद का अथवा सामवेद का सभी का पाठ आप सर्वप्रथम ओंकार का उच्चारण करके ही आरम्भ करेंगे। ऐसा प्राचीन सदाचार है क्योंकि यह उद्गीथ विद्या-ओंकार, मंगलमय है। वेद पाठ में ही नहीं इन तीनों वेदों में जो वर्णित यज्ञादि कर्म हैं जैसे सोमयाग आदि उनमें भी सर्वप्रथम ओंकार का ही उच्चारण होता है। जो ऋग्वेद के मन्त्रों का उच्चारण -आश्रावण- करता है, उसे अध्वर्यु कहते हैं। जो यजुर्वेद के मन्त्रों का उच्चारण-शंसन- करता है, उसे होता कहते हैं और जो सामवेद का गायन-उद्गीथ-करता है, उसे उद्गाता कहते हैं। तो चाहें अध्वर्यु ऋक्वेद का आश्रवण करे, या होता यजुर्वेद का शंसन करे अथवा उद्गाता सामवेद का उद्गीथ-गायन करे सभी सर्वप्रथम ओंकार का उच्चारण करके ही वेद मन्त्रों का पाठ करते हैं। यह प्रणव जो परमात्मा का

वाचक अक्षर है, इसी की पूजा के ही निमित्त-इसी की महिमा के निमित्त तथा इसी के रस द्वारा समस्त कर्म किये जाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! प्रणव की अपचिति--पूजा--के निमित्त सर्ववेदिक कर्म कैसे किये जाते है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! समस्त वैदिक तान्त्रिक पौराणिक कर्मों द्वारा परमात्मा की ही तो उपासना पूजा होती है और यह प्रणव परमात्मा का वाचक हैं। वाचक और वाच्य में कोई भेद नहीं होता, अतः परमात्मा की पूजा ही प्रणव की पूजा है।"

शौनकजी ने पूछा—"इस प्रणव की महिमा से सब कार्य कैसे सम्पन्न होते हैं?"

सूतजी ने कहा—"प्राणों द्वारा ही यजमान और ऋत्विज कर्म करते हैं, इनमें प्राण शक्ति न हो, तो यज्ञ के कार्य सम्पन्न कैसे हों। वाक् प्राण ही ऋक् और साम है। अतः ऋत्विज और यजमान जो कर्म द्वारा यज्ञ की महिमा बढ़ाते हैं, वह प्रणव की ही महिमा तो हैं--यह महत्त्व उद्‌गीथ रूप प्रणव का ही तो है।"

शौनकजी ने कहा—"यज्ञ में धान्य, तिल, जौ, आदि जो रसों द्वारा आहुति होती है, वह रस प्रणव कैसे हैं?"

सूतजी ने कहा—"व्रीहि यवादि हविष्य पदार्थ साक्षात् न सही तो परम्परया तो प्रणव के कारण हैं ही। जैसे होमादि वेदपाठादि कर्मों में सस्वर प्रणव का उच्चारण करो, तो वे कर्म आदित्य को प्राप्त होते हैं, क्योंकि आदित्य समस्त कर्मों के साक्षी हैं। इसीलिये सभी शुभ कर्मों के अन्त में आदित्य से यह प्रार्थना की जाती है—"हे ब्रह्मन! विवस्वान्! आप समस्त जगत् को प्रकाश प्रदान करने वाले हैं। आप जगत् के सविता हो और समस्त कर्मों के साक्षी हो।" तो वे शुभ कर्म सविता--आदित्य--को प्राप्त होंगे। उससे वृष्टि होगी, वृष्टि से जौ, तिल, चावल आदि अन्नों की

की-उत्पत्ति होगी। वे रस रूप अन्न यज्ञादि कर्मों में लगाये जायँगे, अतः रस की उत्पत्ति में भी उद्‌गीथ रूप प्रणव ही कारण है। अतः यज्ञों में प्रणव की ही पूजा होती है, प्रणव की महिमा बढायी जाती है और प्रणव रूप रस द्वारा ही हवन कार्य सम्पन्न होता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो ॐ की बड़ी अद्भुत महिमा बतायी। जो प्रणव की इस महिमा को नहीं जानते, फिर भी सब काम वे प्रणव उच्चारण पूर्वक ही करते हैं, तो क्या उनका वह कर्म निष्फल होता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! कल्याण कृत कर्म कभी निष्फल नहीं होता, किन्तु जो ज्ञान पूर्वक किया जाय, तो वह अधिक प्रबलतर होता है जैसे बहुत से मणिमाणिक्यों को लेकर जौहरी बेचने जा रहे हों, मार्ग में उन्हे दस्यु लूट लें और उन्हे हाट में बेच आवें, तो उन्हे उनका मूल्य न्यून मिलेगा, क्योंकि वे उन माणिक्यों के गुणों से परिचित नहीं थे। यदि उन्हें जौहरी लोग बेचते तो वे उसका अत्यधिक मूल्य प्राप्त करते, क्योंकि वे उनके गुणों से उनकी महत्ता से परिचित थे। इसी प्रकार जो इस प्रणव की महत्ता को जानकर प्रणव उच्चारण पूर्वक कर्म करता है, और जो इसकी महत्ता को न जानकर भी परम्परया प्रणव उच्चारण पूर्वक कर्म करता है, तो फल तो दोनों को ही प्राप्त होता है, किन्तु विद्या और अविद्या दोनों के फल में भेद हो जाता है। जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योग से युक्त होकर किया जाता है उसका प्रतिफल प्रबलतर होता है, जो बिना जाने किया जाता है, उसका उससे कुछ न्यून प्रतिफल होता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! यही उद्‌गीथ संज्ञक प्रकृत अक्षर ॐ प्रणव की व्याख्या है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! प्रणव की उपासना कैसे करनी चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"प्रणव की उपासना प्राण से करनी चाहिये। प्राणोपासना ही सर्वोत्कृष्ट उपासना है।"

शौनकजी ने कहा—"तब, सूतजी ! हमें अब प्राणोपासना के ही सम्बन्ध में बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड में प्राणोपासना की उत्कृष्टता का ही वर्णन है। अब मैं आप से उसी प्रकरण को कहूँगा। आशा है, आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

ओंकार उद्गीथ करें उद्गाथा गायन।
महिमा ताकी कहूँ चराचर रस पृथिवी इन॥
भू को रस जल तासु ओषधी ताको रस है।
ओषधि रस नर, देह तासु बानी ही रस है॥
बानी को रस ऋचा है, साम तासु को रस सरस।
साम परम रस प्रणव है, तिहि आगे सब रस विरस॥

(२)

ऋचा, साम अरु प्रणव, प्राण वाणी मिलि जावें।
नारि पुरुष हैं मिथुन काम ज्यों अति सुख पावें॥
प्राण वाक् करि मिथुन उपासन करें प्रणव की।
होवें ते कृतकृत्य कामना पूरी तिनिकी॥
ओम् अनुज्ञा समृधि हित, मङ्गलमय मख करम में।
प्रणवपूर्व करमनि करें, धन्य होहिं ते धरम में॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
प्रथम खण्ड समाप्त।

अध्यात्मरूप रूप से प्राणोपासना की उत्कृष्टता

[६३]

देवासुरा ह वै यत्र सयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध
देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥*

(छा० उ० प्र० प्र० २ ख० १ मं०)

छप्पय

पूर्वकाल सुर असुर परस्पर समर करत उत।
असुर हरावन सुरनि लगायो उद्गीथहिँ चित॥
प्राण प्राणतैं प्रणव जप्यो असुरनि करि दूषित।
सो सुगन्ध दुरगन्ध प्राणतैं दोउनि सूँघत॥
पुनि बानीतैं सो जप्यो, असुरनि सो दूषित करी।
तातैं बानी सत असत, दोऊ बोलति अघभरी॥

कोई भी कार्य केवल इन्द्रियों द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक उसके लिये प्राणों का पण लगाकर चेष्टा न की जाय। शरीर में एक प्राण ही परोपकारी–सबकी सुधि लेने वाले हैं, अतः शरीर का आधार प्राण ही हैं। दो प्रकार के मनुष्य होते

---

* देवता और असुर पहिले दोनों परस्पर में युद्ध करते थे। उस समय देवताओं ने असुरों को हराने के निमित्त उद्गीथ अर्थात् प्रणव का विजय के उद्देश्य से अनुष्ठान किया।

हैं। एक तो वे जिनका अपना कोई निजी स्वार्थ हो ही नहीं, जो सदा सर्वदा परोपकार में ही संलग्न रहते हो। ऐसे लोग सर्वथा निर्दोष होते हैं। क्योंकि दोष तो स्वार्थ से ही आते हैं। दूसरे वे लोग होते हैं, जो अपने स्वार्थ को प्रधान मानते हैं। अपना स्वार्थ पहिले सिद्ध हो जाय, तब दूसरों की बात सोची जाय। ऐसे लोगों से कुछ किसी का भले ही उपकार होता हो, सम्पूर्ण उपकार नहीं हो सकता। सम्पूर्ण उपकार तो उसी के द्वारा होगा जिसका अपना निज का कोई स्वार्थ ही न हो, जिसका प्रत्येक कार्य परमार्थ के ही निमित्त हो।

ब्रह्म प्राप्ति, बिना विद्या के बिना भक्त के तथा बिना चित्त को एकाग्र किये हो नहीं सकती। संसार मे बिखरी हुई वृत्तियों को एकाग्र करके उन्हें संसार से हटाकर परमात्मा की ओर लगाया जाय, तभी ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इसके तीन ही उपाय हैं–साधन तथा योग है। एक तो अखंड ब्रह्मचर्य को धारण करना। ब्रह्म प्राप्ति का एक यह भी उपाय है।(यदिच्छन्तोब्रह्मचर्यं चरन्ति) दूसरा मन को एकाग्र करने से और तीसरा उपाय है प्राणों की उपासना से प्राणायाम द्वारा मन की स्थिरता करने से।

इनमें ब्रह्मचर्य में स्खलन होने का भय बना रहता है। मन स्वभाव से ही चञ्चल है, पता नहीं कब किधर भटक जाय। एक प्राण ही ऐसे निर्दोष हैं, कि यथाविधि प्राणायाम करने से–प्राणोपासना से–मन तथा ब्रह्मचर्य के साथ प्राण स्थिर हो जाते हैं। समाधि सुख की अनुभूति होने लगती है, क्योंकि शरीर में प्राणों से बढकर कोई भी उपकारी नहीं। समस्त इन्द्रियाँ अपना ही उपकार करती हैं। उन्हे दूसरों का विशेष ध्यान नहीं। जैसे कोई सुगन्धित पदार्थ है, नासिका को उसे दो तो वह उसकी सुगन्धि का स्वयं ही आस्वादन करेगी। उससे न तो कान ही

तृप्त होंगे, न वाणी, तथा अन्य इन्द्रियाँ ही। नेत्रों को अंजन दे दो, तो उसे लगाकर नेत्र अपनी ही ज्योति बढ़ावेंगे, नाक, कान मुखादि को कुछ न देंगे। कानों को सुखद शब्द सुनाओ तो वे स्वय तृप्त होंगे, अन्य इन्द्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं। कोई सुखद मृदुल, सुकोमल वस्तु स्पर्शेन्द्रिय को दें तो स्पर्श की सुखानुभूति वह स्वय ही करेगी। किन्तु प्राणों के सम्बन्ध में यह बात नहीं। प्राण का धर्म है भूख-प्यास लगना। भूख-प्यास लगने पर आप प्राण को जो भी रूखा-सूखा, अच्छा-बुरा, खाने-पीने को दोगे, उसी से वह तृप्त हो जायगा, उसे अकेला ही न खायगा। समस्त इन्द्रियों को सम्पूर्ण शरीर को—वह अपना आहार बाँट देगा, स्वयं जा-जाकर सबको तृप्त करेगा, सबको आहार पहुँचावेगा। जिसको जिस रूप मे आवश्यकता होगी, उसे उसी रूप मे आहार देगा। उसकी इस परोपकारमयी वृत्ति के कारण ही तो सभी उसके अधीन रहते हैं। उसके निकलने पर सभी इन्द्रियाँ निकल जाती हैं। उसके आने पर सभी आकर अपना-अपना कार्य करने लग जाती हैं। अतः शरीर में निर्दोष परोपकारी मुख्यतया प्राण ही हैं। उस प्राण को ही निमित्त बनाकर प्राणों का पण लगाकर उपासना करनी चाहिये।

लोक मे भी हम देखते हैं, किसी काम को करने कोई जाते हैं, तो हाथ की पूरी शक्ति लगाते हैं। वाणी से समझाते हैं, नेत्रों से अवलोकन करते हैं, सफल नहीं होते। जब प्राणों का पण लगाकर पूरी शक्ति से जुट जाते हैं, तो ऐसा कौन-सा कार्य है जो प्राणों का पण लगाकर करने से सफल न हो जाय। प्राणपण से किया हुआ कार्य निश्चय ही सफल होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे प्राणोपासना की

उत्कृष्टता के सम्बन्ध में प्रश्न किया था, उसका उत्तर उपनिषद्कार ने एक बड़ी सुन्दर उपाख्यायिका के रूप में दिया है।"

शौनकजी ने कहा - "सूतजी! वह कौन-सी उपाख्यायिका है? कृपा करके आप उसे हमें भी सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"सुनिये महाराज! आपको प्राण सम्बन्धी आख्यायिका सुनाता हूँ। भगवान् कश्यप प्रजापति की ही देवता असुर दोनों सन्तानें हैं। दिति की सन्तान तो दैत्य असुर हैं और अदिति का सन्तान देवता हैं। देवता और असुरों मे स्वाभाविक द्वेप होता है। एक बार देवताओं और असुरों में किसी कारणवश परस्पर युद्ध ठन गया। शारीरिक बल मे असुर लोग देवताओं से कुछ तगड़े पड़ते हैं। जब देवता असुरों को शारीरिक बल द्वारा जीतने में समर्थ न हुए तब उन्होंने सोचा—हम उपासना द्वारा ऐसी शक्ति पैदा करें, कि जिसके द्वारा इन असुरों को जीत सकें। अब प्रश्न यह उठा कि उपासना करनी किसकी चाहिये? विज्ञ लोगों ने बताया कि सबसे श्रेष्ठ उपासना उद्गीथ (प्रणव) की है। प्रणव की उपासना करनी चाहिये।

अब प्रश्न यह उठा, कि प्रणव तो निराकार है, उसकी उपासना किसी को प्रतीक बनाकर उसके रूप मे करनी चाहिये। तब उन्होंने सोचा—नासिका मे रहने वाला जो प्राण है,वह सबसे श्रेष्ठ है। कारण कि समस्त चराचर जीवों का आधार है। पृथ्वी के बिना स्थावर जंगम कोई जीव रह नहीं सकता। पृथ्वी गन्धवती है, गंध का ज्ञान नासिका मे रहने वाले प्राण के अतिरिक्त कोई कर नहीं सकता। अतः नासिका में रहने वाले प्राण के रूप में ही उद्गीथ (प्रणव) की उपासना करनी चाहिये।

यह सोचकर सब ने नासिकास्थ प्राण को ही आधार बनाकर उद्गीथ की उपासना की।

शौनक जी ने पूछा—"नासिका में रहने वाले प्राण के रूप में प्रणव की उपासना कैसे की ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! गंध का ज्ञान कराने वाला घ्राणेन्द्रिय का स्वामी प्राण ही उपास्य है अतः उसी में चित्त स्थिर करके उपांशुरूप में प्रणव का जप करने लगे। जब असुरों ने देखा कि उपासना द्वारा शक्ति प्राप्त करके ये लोग हमको परास्त कर देंगे, तो उन लोगों ने इनकी उपासना में विघ्न डालने का निश्चय कर लिया। नासिका में रहने वाले जिस प्राण के रूप में वे प्रणव (उद्‌गीथ) की उपासना कर रहे थे उसे पाप से विद्ध कर दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"घ्राणेन्द्रिय के प्राण को पाप से विद्ध कैसे कर दिया ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! पहिले घ्राणेन्द्रिय केवल गंध का ही ज्ञान कराती थी। पृथ्वी की जो साधारण गंध है पार्थिव गंध। अब असुरों ने क्या किया, कि घ्राणेन्द्रिय के सम्मुख अच्छे-अच्छे अत्यन्त सुगन्धित पदार्थ भी रख दिये और दुर्गन्ध वाले पदार्थ भी रख दिये। घ्राणेन्द्रिय अत्यन्त उत्कट सुगंध वाले पदार्थों को सूँघकर बड़ा प्रसन्न हुआ। फिर उसने सोचा—"देखें इन दूसरे पदार्थों में कैसी गन्ध है ? जब उन्हें सूँघने लगा तो उनमें दुर्गन्ध थी। तब तो नाक भौं सिकोड़ने लगा। अब उसके मन में सामान्य भाव नहीं रहा, राग द्वेष का भाव आ गया। सुगंध में राग दुर्गन्ध मे द्वेष जो उपासना का आधार है, उसे राग द्वेष से रहित समदर्शी होना चाहिये। नासिका स्थित प्राण में विषमता आ गयी वह सुगन्ध दुर्गन्ध दोनों का आस्वाद लेने लगा। यही उसका पाप से विद्ध होना है। तभी से घ्राणेन्द्रिय पाप से विद्ध होने के कारण सुगंध दुर्गन्ध दोनों को ही सूँघता है।

वह निर्दोष-समदर्शी-नहीं रहा तो उपासना करने के लिये प्रतीक रूप का अधिकारी नहीं रहा। इसलिये उपासकों को उपासना के समय सुगन्ध दुर्गन्ध की ओर ध्यान न देना चाहिये।"

तब देवताओं ने सोचा—"यह नासिका में रहने वाला प्राण तो पाप से बिंधा हुआ है अब किसी दूसरी इन्द्रिय को प्रतीक बनाना चाहिये। तब तक वाणी सत्य ही भाषण किया करती थी, देवताओं ने सोचा—लाओ वाणी को ही प्रतीक बनाकर प्रणोपासना करें। अतः उन्होंने वाणी के रूप में उद्गीथ की उपासना आरम्भ कर दी। असुरों को तो अब एक अवलम्बन मिल गया। उन्होंने आकर वाणी को भी पाप से विद्ध कर दिया।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! वाणी द्वारा प्रणव की उपासना कैसे की? और फिर असुरों ने उसे पाप विद्ध कैसे कर दिया?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! पहिले तो नासिका में रहने वाले प्राण को प्रतीक बनाकर उन्होंने उपांशु-मानसिक-जप किया। अब वाणी से जोर-जोर से वैखरी वाणी में जप करने लगे। असुरों ने वाणी के सम्मुख सत्य और असत्य दोनों को रख दिया। वाणी चक्कर में फँस गयी। उसे असत्य बोलने का भी चस्का लग गया। यही उसका पाप विद्ध होना है। तभी से वाणी सत्य और असत्य दोनों ही बोलने लगी। उसकी समता नष्ट हो गयी। इसलिये उपासकों को उपासना के समय मौन धारण करना चाहिये। सत्य मिथ्या कैसा भी वचन न बोलना चाहिये। पाप विद्ध होने से देवताओं ने उसे भी उपासना प्रतीक के अनुपयुक्त जानकर दूसरे प्रतीक की खोज आरम्भ कर दी।

तब तक कान केवल सुनने योग्य शब्द को ही श्रवण किया

करते थे। देवताओं ने सोचा—"आकाश निर्लेप है, आकाश का गुण शब्द है, इस शब्द को श्रोत्र इन्द्रिय सुनती है, अतः यह निर्लेप पवित्र है, इसी को प्रतीक बनाकर प्रणव की उपासना करनी चाहिये। असुरों ने आकर उसे भी पाप विद्ध कर दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! श्रोत्र को प्रतीक बनाकर उपासना कैसे की, और असुरों ने उसे पाप विद्ध कैसे कर दिया ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! वे निरन्तर कानों द्वारा प्रणव के घोष को ही सुनते रहे। यही श्रोत्र द्वारा उपासना है। असुरों ने कुछ मधुर शब्द कुछ अपशब्द दोनों ही श्रोत्रेन्द्रिय के सम्मुख रख दिये। कान जो अब तक शुद्ध ही शब्द सुनने के आदी थे, वे अपशब्दों को भी सुनने लगे यही उनका पाप से विद्ध होना है, तब से श्रोत्र सुनने योग्य और न सुनने योग्य दोनों ही प्रकार के शब्दों को सुनने लगे। अतः उपासना करने वाले उपासकों को कानों को इस प्रकार बन्द रखना चाहिये, कि अपने इष्ट मन्त्र के अतिरिक्त अन्य कैसा भी शब्द सुनाई न दे।

जब श्रोत्र पाप से बिँध गये, तब देवताओं ने बाहरी इन्द्रियों को छोड़कर भीतरी इन्द्रिय मन के रूप में उद्‌गीथ-प्रणव-की उपासना की। असुरों ने मन को भी आकर पाप से बेध दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"मन के द्वारा प्रणव की उपासना कैसे की और उसे पाप से कैसे बेध दिया ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! पहिले मन शिव संकल्प ही किया करता था। इसलिये देवताओं ने मानसिक जप, मानसिक पूजन, मानसिक ध्यान करना आरम्भ कर दिया, यही मन के द्वारा उद्‌गीथ की उपासना है। असुरों ने मन के सम्मुख कुछ शुभ संकल्प रख दिये कुछ अशुभ संकल्प भी। मन दोनों में बँट

गया, यही उसका पाप मे विँध जाना है। अतः साधना करते समय साधकों को संकल्प करने योग्य तथा संकल्प न करने योग्य किसी भी प्रकार के संकल्प विकल्प न करने चाहिये, निःसंकल्प होकर उपासना करनी चाहिये। तभी से लोक में मन संकल्प करने योग्य तथा संकल्प न करने योग्य दोनों ही संकल्प विकल्प किया करता है।"

जब देवताओं ने मन को भी पाप से विँधा हुआ देखा,तब ये मुख में रहने वाले मुख्य प्राण के समीप गये। देवताओं ने सोचा-"यह प्राण सभी का आधार है, सभी अंगो से समान भाव से प्रेम करता है, इसे जो खाने पीने का आहार मिलता है, उसे सभी अंगों को बिना पक्षपात के बाँट देता है। यह समदर्शी, परोपकारी, पक्षपात से शून्य, निरभिमानी है, इसी को आधार मानकर इसी के रूप में उद्‌गीथ-प्रणव-की उपासना करें।" यह सोचकर वे प्राणपण से प्राणों का संयम करके-प्राणों को रोककर कुम्भक प्राणायाम द्वारा प्रणव की उपासना करने लगे। असुरों ने आकर वहाँ भी अपनी तिकड़म भिड़ाई। मुख्य प्राण को भी पाप विद्ध करना चाहा। किन्तु भगवन्! कोई सुदृढ़ पाषाण को मिट्टी के ढेले से तोड़ने का प्रयास करे, तो मिट्टी के ढेले से सुदृढ़ पाषाण तो टूट नहीं सकता। उलटे उससे टकराकर मिट्टी का ढेला ही फूट जायगा, वही चकनाचूर हो जायगा। जिनका व्रत निरन्तर परोपकार करना ही है, जो सदा सर्वदा परोपकार मे ही निरत रहते हैं। जिनके मन में किसी के प्रति पक्षपात नहीं, जो समदर्शी हैं उन पर यदि खल आक्रमण करें, तो उन परोपकारी का तो कुछ बिगड़ेगा नहीं, उलटे खल ही नष्ट हो जायेंगे। भगवान् कपिलदेव के ऊपर सगर के साठ सहस्र सुतों ने अस्त्र-शस्त्रों से आक्रमण किया, इससे महर्षि कपिल की तो कुछ हानि हुई नहीं,

उलटे वे सबके सब साठ सहस्र जलकर भस्म हो गये। इसी प्रकार जिस भाँति दुर्भेद्य पाषाण को प्राप्त होकर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है-चकनाचूर बन जाता है—उसी प्रकार वह व्यक्ति भी विनष्ट हो जाता है, जो इस प्रकार के परोपकारी पुरुष के प्रति पापाचरण की कामना करता है। जो उसे अपशब्द कहता है, कोसता है, उस पर प्रहार करता है- उसे मारता पीटता है।

असुरों की वहाँ दाल नहीं गली। परोपकारी प्राणों के सम्मुख उनकी एक भी चाल नहीं चली। क्योंकि प्राणों द्वारा उपासना करने वाला उपासक अभेद्य पाषाण के सदृश है। जिस पर प्रहार करने वाला मिट्टी के ढेले के सदृश उससे टकराकर चकनाचूर हो जाता है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! और सब इन्द्रियाँ तो असुरों के प्रयत्न से पाप बिद्ध हो गयीं, किन्तु प्राणों के सम्मुख उनकी दाल नहीं गली। इससे सिद्ध हुआ, शरीर में सबसे मुख्य प्राण ही हैं।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! आपका कहना यथार्थ ही है। प्राण शरीर मे निर्लेप भाव से रहते हैं। प्राण न सुगन्ध जानता है न दुर्गंध, कारण कि पाप से विद्ध न होने के कारण वह समदर्शी रूप मे रहता है। इसके लिये अपने निमित्त अच्छा बुरा कुछ नहीं। खूब भूख लग रही हो, उस समय चाहें हलुआ, पूड़ी, मिठाई, खीर, आ जाय अथवा सूखे सत्तू, चना, बासी-कूसी रोटी, प्राण दोनों से ही सन्तुष्ट हो जाता है। फिर यह जो भी कुछ खाता-पीता है, उससे सभी इन्द्रयों मे स्थित अन्य नौऊ प्राणों का पोषण करता है। सभी अंगों को आहार देकर समान भाव से सब का प्रतिपालन करता है।

भूख प्राण का ही धर्म है, अन्नपान प्राणों को ही प्राप्त होता

है। अन्नपान न मिलने से सभी इन्द्रियाँ शरीर को छोड़कर चली जाती हैं। शरीर ज्यों-का-त्यों पडा रहता है, इन्द्रिय गोलक ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। अन्नपान के अभाव में प्राणहीन होने पर सब इन्द्रियाँ उत्क्रमण करती हैं। आहार के बिना शरीर का परित्याग करके चली जाती हैं। उत्क्रमण के समय सभी इन्द्रियों के देव भूखे ही भगते हैं, उनकी भोजन करने की इच्छा बनी ही रहती है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सभी इन्द्रियों को भोजन करने की इच्छा रहती है, इसका प्रमाण क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! प्रमाण तो स्पष्ट ही है, मरते समय मुँह फटा-का-फटा ही रह जाता है। पुरुष मुख फाड़ देता है, इसका अर्थ यही हुआ कि हमें आहार की इच्छा थी, इस शरीर में आहार नहीं मिला तो हम जाते हैं। इसलिये प्राणोपासना ही सर्वश्रेष्ठ है, उसी की उपासना करनी चाहिये। प्राण का एक नाम आङ्गिरस भी है।'

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! प्राण का नाम आङ्गिरस क्यों पड़ा ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अंगिरा मुनि ब्रह्माजी के दश पुत्रों में से एक हैं। ये ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुए थे। प्राण भी मुख में ही रहता है। (अङ्गति--ब्रह्मणो मुखान्निः सरति इति= अङ्गिरा) अङ्गिरा मुनि का विवाह कर्दम पुत्री श्रद्धा के साथ हुआ था। इसीलिये श्रद्धा के बिना उपासना संभव नहीं। इनके दो पुत्र थे उतथ्य और बृहस्पति। इन अङ्गिरा ऋषि ने प्राण को ही प्रतीक बनाकर प्रणव की-ओंकार की-उपासना की थी। अतः इस प्राणोपासना को अङ्गिरा द्वारा की जाने के कारण 'आङ्गिरस' कहते हैं। प्राण भी मुख में रहते हैं और अङ्गिरा भी ब्रह्माजी के

मुख से हुए हैं। यह प्राण भी समस्त अङ्गों का रस-आधार-अथवा पोषक है, इसलिये इस प्राण का नाम आङ्गिरस है। इस प्राण का दूसरा नाम बृहस्पति भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण का बृहस्पति नाम क्यों पड़ा ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! सदाचार ऐसा है जिस मार्ग से हमारे पिता, पितामह तथा प्रपितामह आदि गये हों, उसी मार्ग का हमें अनुसरण करना चाहिये। बृहस्पति अङ्गिरा ऋषि के पुत्र हैं जब अङ्गिरा मुनि ने प्राणों की उपासना की तो उनके पुत्र आङ्गिरस बृहस्पति को भी उसी उपासना को करना चाहिये। बृहस्पति द्वारा उपासित होने से ही लोग प्राणों को भी 'बृहस्पति' कहने लगे। दूसरे वाणी का एक पर्यायवाची शब्द बृहती भी है, उसका प्राण पति--रक्षक है। इसलिये भी इसका नाम बृहस्पति है। प्राण का एक नाम आयास्य भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण का नाम आयास्य क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"आयास्य नाम के एक ऋषि ने भी प्राण की उपासना की थी, इसीलिये लोक में लोग प्राण को ही 'आयास्य' कहने लगे। दूसरे यह आस्य--मुख से आता जाता है इसलिये भी इसका नाम आयास्य है। कहाँ तक गिनावें इस प्राणोपासना द्वारा सभी ने अपने-अपने मनोरथों को पूर्ण किया है। एक महर्षि दल्भ हुए हैं उनके पुत्र दाल्भ्य वक नाम के प्रसिद्ध महर्षि हुए हैं। उन्होंने उद्गीथ--ओंकार--की प्राण रूप से उपासना की। इसके परिणामस्वरूप उन्हें आप नैमिषारण्य के अठासी सहस्र मुनियों के यज्ञ में उद्गाता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ये महर्षि वक जो आपके उद्गाता बने विराजमान हैं। इन्होंने आपके कामनापूर्ति के उद्देश्य से उद्गीथ का गान किया था। इसलिये ब्रह्मन् ! यह प्रणव की प्राणोपासन सर्वश्रेष्ठ उपासना

है। इस उपासना को जो भली-भाँति जानता है, और जानकर इस उद्गीथ-ओंकार अक्षर ब्रह्म-की उपासना करता है, वह समस्त कामनाओं का आगान करने वाला होता है। अर्थात् ओंकार के गान से उसकी समस्त मनोकामनायें परिपूर्ण हो जाती हैं। वे अपनी मनोभिलषित वस्तुओं को अवश्यमेव प्राप्त कर लेता है। ओंकार के गान रूपी उपासना से सभी इच्छित वस्तुयें आकर्षित होकर उपासक के समीप स्वतः ही चली आती हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! इस प्रकार यह अध्यात्म विषयक देह से सम्बन्ध रखने वाली प्रणव की प्राणोपासना की महिमा समाप्त हुई। अब मैं आगे आप से आदित्य दृष्टि से ओंकार की आधिदैविक उपासना कहूँगा। उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

(१)

फेरि चक्षु तैं करी उपासन दूषित कीन्ही।
दर्शनीय बिनु दर्शनीय तब तैं यह चीन्ही॥
पुनि श्रोत्रहु सुनि प्रणव उपासें पाप बिद्ध करि।
तब तैं यह श्रवणीय नहीं श्रवणीय सुनहिँ भरि॥
पुनि मन तैं उद्गीथ की, करत उपासन सुर जबहिँ।
अघतें बेध्यो योग्य अरु, मनन अयोग्यहिँ करि तबहिँ॥

(२)

मुख्य प्राण तैं करी उपासन असुरहु हारे।
पत्थर तैं टकराय ढेल फूटै ज्यों मारे॥
प्राणोपासक श्रेष्ठ पखान अभेद्य सरिस है।
पर उपकारक प्रान मिलै जो देत सबनि है॥
जाहि आंगिरस बृहस्पति, आयास्यहु ऋषि मुनि कहत।
अंगसार यह वाक् पति, मुखतैं ही निकसत रहत॥

(३)

विश्वामित्र, वसिष्ठ, अत्रि अरु बामदेव मुनि ।
ऋषि वृहस्पति और अंगिरा जपत प्रणव सुनि ॥
दल्भ्य पुत्र उद्गीथ उपासन करि सुख पायो ।
बक नैमिष ऋषि सत्र माहिँ तिनने यह गायो ॥
यह अध्यात्म उपासना, गायन तैं सब दुख हरत ।
प्रणव उपासक की प्रणव, सब इच्छा पूरी करत ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड में आध्यात्मिक उपासना समाप्त ।

आदित्य दृष्टि से ओंकार की आधिदैविक उपासना

[६४]

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतो-
द्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति । उद्यँ स्तमोभय-
मपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ।*
(छा० उ० प्र० अ०, ३ ख १ म०)

छप्पय

अब अधिदैविक सुनो उपासन सूर्य प्रणव सम ।
प्रणवरूप में करै उपासन उदित नसै तम ॥
अन्न आदि उपजाइ सबनि उपकार करत है ।
जाने सूर्य प्रभाव नासि तम जनम हरत है ॥
प्रान उष्ण रवि उष्ण है, दोउनिकूँ ऋषि स्वर कहत ।
प्रत्यास्वर हू सूर्य है, उभय उपासन दुख हरत ॥

---

* अब अधिदैव उपासना कहते हैं । यह जो सूर्य तपता है, उसकी उद्गीथ रूप मे उपासना करे । यह उदित होकर प्रजाओं के निमित्त उद्गान करता है । उदित होने पर तम और भय का नाश करता है । जो इस प्रकार सूर्य की महिमा जानता है, उनकी उपासना करता है, वह भय और तम का निश्चय ही नाश करने वाला होता है ।

सब वस्तुओं के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक न न तीन भेद होते हैं। जैसे गगाजी हैं, इनका आधिभौतिक रूप ता जो यह प्रत्यक्ष बहता हुआ जल है, वह हैं। वह तो सभी को दृष्टिगोचर होता है। देवी रूप में जो गगाजी हैं, उनके दर्शन किसी भाग्यशाली को ही होते हैं। जैसे शांतनु के पिता के सम्मुख गगाजी अपने दैवी रूप से प्रकट होकर उनकी दायीं जघा पर बैठ गयी और उनसे विवाह करने का प्रस्ताव किया। राजा ने कहा—"देवि! तुम से एक भूल हो गयी, दायीं जंघा पुत्री और पुत्रवधू के लिये है, पत्नी का अधिकार वाम जंघा पर है, अतः तुम मेरी पुत्रवधू हो सकती हो। तभी उनका विवाह महाराज शातनु से हुआ, जिनसे भीष्मपिता का जन्म हुआ। यह उनका आधिदैविक स्वरूप है। अध्यात्मरूप मे तो वे साक्षात् ब्रह्मद्रव ही हैं। पिघला हुआ साक्षात् ब्रह्म ही है। ब्रह्मद्रव के रूप में उनका साक्षात्कार महान् योगी, सिद्ध महापुरुष ही करते हैं।

ये तीनो रूप एक ही के हैं। इन तीनों मे अणु मात्र भी भेद नहीं। तीनो में से किसी भी रूप मे जो इनकी उपासना करेगा, उसका कल्याण होगा। ये तीनो रूप उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। आधिभौतिक रूप से आधिदैविक रूप श्रेष्ठ है और आधिदैविक से अध्यात्मरूप श्रेष्ठ है। तीनों की उपासना की ही अधिकारी भेद से करनी चाहिये।

इसी प्रकार उद्गीथ या प्रणवोपासना के भी तीन भेद हैं। अध्यात्मरूप से तो प्राणों को प्रतीक मानकर उपासना की जाती है, प्राण दृष्टिगोचर नहीं होते उसका आत्मा मे ही अनुभव होता है अतः यह अध्यात्म पक्ष है। ओंकार को देवता मानकर सूर्य मे उपासना करना सूर्य देवता को ही ओंकार का–प्राण का–रूप मानना यह आधिदैविक उपासना है। और ओंकार की स्वरूप

में उपासना करना उच्चस्वर से उच्चारण करके उसकी उपासना करना यह ओंकार की उद्‌गीथ रूप में आधिभौतिक उपासना है। पिछले प्रकरण में आध्यात्मिक उपासना का वर्णन किया गया। अब ओंकार की उपासना का आधिदैविक रूप में वर्णन करते हैं—

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले प्रकरण में मैंने आप से अध्यात्म रूप से ओंकार की प्राणोपासना का वर्णन किया। प्राण रूप में प्राण को ही ओंकार मानकर उसकी उपासना करना यह अध्यात्म उपासना है। अर्थात् प्रत्येक प्राण के-स्वास के-साथ प्रणव का उच्चारण करना यही प्राणोपासना है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रत्येक प्राण के साथ प्रणव का जप कैसे किया जाय ?"

सूतजी ने कहा—"ओम् कहो, सोहं कहो, हंसः कहो, ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। हंसः का उलटा कर दो तो सोहं बन जायगा। स और ह का लोप कर दो तो ओम् बन जायगा। प्राण जब बाहर आता है, तो वह ह शब्द करता हुआ ही बाहर आता है, जब वह अपान के रूप में भीतर-प्रश्वास बनकर-जाता है तो स शब्द करते हुए जाता है। इस प्रकार जीव स्वतः ही प्रत्येक श्वास प्रश्वास पर हंसः, सोहं अथवा ओम्, इस मंत्र का जाप करता रहता है। अज्ञानपूर्वक करने से अज्ञान में डूबा रहता है। इसी जप को ज्ञानपूर्वक-उसी में प्राणों का समावेश करके-उसी पर चित्त की वृत्ति को एकाग्र करके—इस प्राण मंत्र का जप करता रहे, तो जीव संसार-बन्धन से तत्काल छूट जाता है। यही स्वतः उद्‌गीत प्रणव है, इसे अजपागायत्री भी कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"इसे अजपागायत्री क्यों कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! पहिले गायत्री शब्द का अर्थ समझ ले। जो गायन के द्वारा–उच्चारण के द्वारा–हमारा त्राण करे, रक्षा करे उसी का नाम गायत्री है। (गायन्त त्रायते इति गायत्री) यही अर्थ उद्‌गीथ का भी है। यह जो गायत्री मन्त्र है, यह प्रणव का–ओंकार का–ही विस्तार है। गायत्रीमन्त्र तो माला लेकर जपा जाता है, किन्तु यह प्राणों के साथ जपी जाने वाली गायत्री (प्रणवरूपा) यह बिना ही माला के–बिना ही प्रयत्न के–बिना ही ओठ तथा जिह्वा की सहायता के स्वतः ही जपी जाती है, इसका गायन स्वय ही होता रहता है, इसीलिये इसे अजपा-गायत्री कहते हैं। चित्त की वृत्ति एक क्षण को भी श्वास-प्रश्वास से पृथक् न जाय। प्राण अपान के साथ ओ और म् का स्वतः ही जप चलता रहे अहर्निशि यही अध्यात्म प्रणव उपासना है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह तो अत्यन्त कठिन उपासना है, इसे तो कोई अत्यन्त ही उच्च कोटि का उपासक कर सकता है। निराधार निराकार रूप मे चित्त को आठो पहर अटकाये रहना साधारण साधक का काम नहीं है। कोई सरल-सा उपाय बतावें।"

सूतजी ने कहा—"तब ब्रह्मन् ! आधिदैविक रूप मे उद्‌गीथ की प्रणवोपासना करे।"

शौनकजी ने कहा—"आधिदैविकरूप मे प्रणवोपासना कैसे करे ?"

सूतजी ने कहा—"इस प्रत्यक्ष दीखने वाले देवता सूर्य-नारायण को ही प्राण मानकर इसी के द्वारा प्रणव की उपासना करे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूर्यनारायण मे और प्रणव में समानता कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये भगवन् ! सूर्यनारायण उदित होकर उद्गान करते हैं, अर्थात् ऊपर की ही ओर उठते जाते हैं। इसी प्रकार सूर्य में जो उद्गीथ प्रणव की उपासना करते हैं, वे सूर्य की ही भाँति ऊपर उठते जाते है। सूर्य मे दो विशेषतायें और हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वे दो विशेषताये कौन कौन सी हैं ?"

सूतजी ने कहा—अंधकार में रगरूप कुछ दीखता नहीं। अज्ञान अंधकार में प्राणी फँसा रहता है। अन्धकार मे पग-पग पर भय भी बना रहता है कोई हिंसक जन्तु आकर प्रहार न कर दे। जब सूर्यनारायण उदित होते हैं तो अन्धकार और भय दोनों का ही एक साथ नाश कर देते हैं। अंधकार हट जाने पर प्रत्येक वस्तु के रङ्ग-रूप, आकृति-प्रकृति का ज्ञान हो जाता है। भय का जो भयंकर भूत था, वह भग जाता है। इसी प्रकार जो इस रहस्य को भलीभाँति जानकर आदित्यरूप में प्रणव की उपासना करता है, उसका अज्ञान अंधकार भी नष्ट हो जाता है, साथ ही जन्म-मरण का जो भयंकर भय है, वह भी भास्कर की उपासना से भग जाता है। अतः जैसे प्राणरूप से प्रणव की आध्यात्मिक उपासना है, वैसे ही सूर्य रूप मे उनकी आधिदैविक उपासना करनी चाहिये। प्राण में तथा सूर्य में कोई भेद नहीं है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप यह कैसी उलटी-उलटी बात बता रहे हैं। प्राण में और सूर्य में तो पृथ्वी आकाश का अतर है। सूर्य ऊपर आकाश मे सूर्यमंडल में रहते हैं। प्राण पृथ्वी पर शरीरो मे रहता है। इनमें समता कैसे हो सकती है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! स्थान भेद से क्या समता नहीं होती ? चन्द्रमा आकाश में रहता है, कुमुदिनी पृथ्वी पर जल मे रहती है, किन्तु चन्द्रमा को देखते ही हर्ष के कारण–प्रसन्न होकर

खिल जाती है। दोनों में समता होने पर स्थान भेद अन्तराय नहीं होता। इसी प्रकार सूर्य आकाश में रहने पर और प्राण शरीरो मे रहने पर भी उनमें परस्पर में बहुत साम्य है।"

शौनकजी ने कहा—"दोनो मे क्या-क्या समानता है ?"

सूतजी ने कहा—सूर्य उष्ण है, गरम होते हैं। आप जाड़ो मे देखे शरीर से जो प्राण निकलता है वह उष्ण ही होता है। इस प्रकार दोनो का गुण एक-सा ही है। गुण के अतिरिक्त दोनो का नाम भी एक है।"

शौनकजी ने पूछा—"दोनों का नाम एक कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"दोनों ही गमन करते हैं इसलिये दोनों का नाम 'स्वर' है। (स्वरयति-गमयति-इति स्वरः) जो स्वरण करता है, गमन करता है। सूर्य भी प्रातःकाल उदय होकर अस्ताचल में गमन कर जाता है और प्राण भी एक शरीर को त्याग कर दूसरे मे गमन करते हैं। अतः दोनो का नाम स्वर है। किन्तु सूर्य में एक विशेषता है, वह प्राची दिशा से गमन करके पुनः उसी प्राची दिशा में ही लौट आता है, किन्तु प्राण जिस शरीर का परित्याग करके जाता है, उसमें पुनः लौटकर नहीं आता। अतः स्वर तो प्राण और सूर्य दोनो का ही नाम है, किन्तु सूर्य का स्वर के साथ-ही-साथ प्रत्यास्वर नाम और अधिक है। इसीलिये प्राण रूप की भाँति सूर्य में भी उद्गीथ-प्रणव-की उपासना करनी चाहिये। यह गायत्री मंत्र प्रणव का ही विस्तार है, और गायत्री में सूर्य की ही महिमा है। उन्हीं से बुद्धि को शुद्ध करने की प्रार्थना की गयी है। अतः गायत्री मंत्र का मानसिक, उपांशु तथा वैखरी वाणी मे जप करना यह भी आदित्य दृष्टि से उद्गीथ प्रणव-का आधिदैविक उपासना ही है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जैसे प्राण रूप में उद्गीत

की अध्यात्मोपासना बतायी है, उसी प्रकार व्यान दृष्टि से भी उद्गीथ-प्रणव-की अध्यात्मोपासना कही गयी है।"

शौनकजी ने पूछा—"व्यान दृष्टि से उद्गीथ-प्रणव-की उद्गीथोपासना कैसे की जाती है, कृपा करके इसे भी बताइये ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! पुरुष निरंतर मुख से या नासिका से वायु को बाहर निकालता रहता है और बाहर की वायु को भीतर ले जाता रहता है। उसको प्राणन क्रिया कहते हैं। वायु को बाहर निकालने को प्राण कहते हैं। इसका दूसरा नाम श्वास अथवा रेचक भी है। वायु को भीतर की ओर जब खींचते हैं, तो उसकी अपान संज्ञा है। इसका दूसरा नाम प्रश्वास, अपश्वास या पूरक भी है। प्राण और अपान की-श्वास और प्रश्वास की-जो सन्धि है, उसका नाम व्यान है, उसे कुंभक भी कहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अन्य शास्त्रों में तो हमने ऐसा सुना है, कि पञ्च प्राणों में से (१) प्राण-तो हृदय देश में रहता है, (२) अपान-गुदा में, (३) समान-नाभि मे, (४) उदान-कण्ठ देश में और (५) व्यान-सम्पूर्ण शरीर मे रहता है। यहाँ भगवती श्रुति प्राण और अपान की सन्धि को व्यान बता रही हैं यह क्या बात है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यहाँ व्यान से अभिप्राय पंच प्राणों वाले व्यान से नहीं है। यहाँ व्यान से अभिप्राय प्राणायाम वाले कुंभक से है। जैसे कुंभक दो प्रकार का होता है, बाह्य कुंभक और आभ्यन्तर कुंभक। ये दोनो श्वास प्रश्वास प्राण अपान की सन्धि मे होते हैं। वायु छोड़ने के अनंतर और उसे भीतर ... के बीच में जो कुछ देर श्वास प्रश्वास की क्रिया रुक जाती स्थिर हो जाती है उसे ही बाह्य कुंभक कहते हैं। वायु

ले जाने के अनंतर उसे बाहर निकालने के बीच मे जो कुछ देर श्वास रुक जाती है, उसे आभ्यन्तर कुंभक कहते हैं। यहाँ पर व्यान कहने से तात्पर्य इन दोनो कुंभकों से ही है। यहाँ श्रुति वचन मे प्राण अपान की जो सन्धि है, उन दोनों के बीच की जो वृत्ति है उस वृत्ति का ही नाम व्यान है। योग की भाषा मे उसी का नाम कुंभक है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! प्राण अपान–रेचक कुंभक–दोनो को छोड़कर केवल व्यान–कुंभक–की ही उपासना पर बल क्यों दिया ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! प्राण अपान–रेचक कुंभक-श्वास प्रश्वास–तो स्वभावतः आते ही जाते रहते हैं। प्रयास तो व्यान के लिये–कुंभक के लिये–ही करना पड़ता है। यह व्यान ही वीर्यवान् कर्म की निष्पत्ति का कारण है।"

शौनकजी ने पूछा—"वीर्यवान् निष्पत्ति का कारण व्यान-कुंभक–कैसे है ?"

सूतजी ने कहा–"व्यान से ही वाणी बोली जाती है। वास्तव मे व्यान ही वाणी है। कोई आदमी कहीं से दौड़कर आ रहा हो। उसके श्वास प्रश्वास जोर-जोर से चल रहे हों, तो एक भी बात न बोल सकेगा। वाणी कुंभक के समय–श्वास प्रश्वास की सन्धि के ही समय–बोली जाती है। न तो कोई दीर्घ श्वास लेते समय वाणी बोल सकता है और न दीर्घ निःश्वास छोड़ते ही समय बोल सकता है। मनुष्य श्वास को बाहर निकालने और प्रश्वास को भीतर खींचने की क्रिया न करता हुआ ही वाणी का स्पष्ट उच्चारण कर सकता है। अर्थात् शब्द उच्चारण व्यान में-कुंभक में ही संभव हैं। इसीलिये व्यान वाणी है, यह व्यान ही

वीर्यवान् कर्म–बोलने–में कारण है। व्यान ही वाणी है, वाणी ही ऋक् या ऋचा है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! वाणी ऋक् या ऋचा कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! ऋचाओं का जब विद्वान् पाठ करते हैं, तब प्राण अपान की क्रिया न करते हुए ही उनका उच्चारण करते हैं। अतः वाणी और ऋक् या ऋचा एक ही है। और जो ऋक् है वही साम है।"

शौनकजी ने पूछा—"ऋक् और साम एक कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! इसका विचार तो इस छांदोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में पहिले ही किया जा चुका है। वहाँ कहा गया है, पृथ्वी का रस जल, जल का रस औपधि, औपधि का रस मानव देह, देह का रस–वाणी, वाणी का रस ऋचा या ऋक्, ऋचा का रस साम और साम का रस उद्गीथ–ओंकार या प्रणव। उसी बात को यहाँ दुहरा रहे हैं। यहाँ भी वाणी, ऋक्, साम और उद्गीथ—ओंकार या प्रणव समानता निरूपण कर रहे हैं। ऋक् और साम एक इसलिये है, कि साम गायन कर्ता प्राण अपान की क्रिया न करता हुआ ही साम का गायन करता है। फिर वही बात कही जो साम है वही उद्गीथ–ओंकार या प्रणव है। ओंकार का उच्चारण भी तभी होगा जब प्राण अपान की क्रिया–श्वास प्रश्वास की क्रिया–न होगी। केवल ऋक्, साम अथवा ओंकार के उच्चारण में ही व्यान की प्रधानता हो सो बात नहीं। जितने पराक्रम के कार्य हैं, जितने भी वीर्ययुक्त कर्म हैं, उन सब में पुरुष प्राण अपान की क्रिया न करता हुआ केवल व्यान वृत्ति में ही करता है। जैसे याज्ञिक लोग हैं। दो अरणियों को मथकर अग्नि को

प्रकट करते हैं। एक अधो अरणी होती है, दूसरी ऊर्ध्व अरणी। जब इन दोनों का बलपूर्वक मन्थन करते हैं, तब उस मंथन क्रिया से अनल उत्पन्न हो जाते हैं। मंथन क्रिया को सुदृढ़ अंगों वाला याज्ञिक करता है, उस समय भी प्राण अपान का क्रिया न करता हुआ केवल व्यान के ही द्वारा अग्नि मंथन करता है।

बहुत से लोग एक स्थान की सीमा निर्धारित करके पण लगा कर वेग के साथ दौड़ते हैं, तो वे स्वास रोककर ही दौड़ते हैं। प्राण अपान की संधि मे–व्यान की वृत्ति में ही–अधिक तेजी से दौड़ा जा सकता है।

क्षत्रिय कुमार अपने-अपने सुदृढ़ धनुषों पर–ज्या-डोरी चढ़ाकर उसे बलपूर्वक खींचकर लक्ष्य पर बाण छोड़ते हैं। जब वे धनुष पर बाण चढ़ाकर डोरी को बलपूर्वक पीछे खींचते हैं तो उस समय भी प्राण अपान की क्रिया न करते हुए ही व्यान वृत्ति में उसे खींचते हैं। कहाँ तक बतावें समस्त वीर्ययुक्त कार्य इसी व्यान मे किये जाते हैं। इसलिये यह व्यान अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसीलिये ये उद्‌गीथ–प्रणव अथवा ओंकार—की व्यान रूप मे उपासना करनी चाहिये। अधिकाधिक कुंभक का अभ्यास बढ़ाते हुए ओंकार का चिंतन मनन और मानसिक जप करना चाहिये, यह भी व्यान की आध्यात्मिक उपासना है। यह मैंने आप से प्रणव ओंकार की आध्यात्मिक तथा आधिदैविक उपासनायें कहीं। अब प्रणव या ओंकार उच्चारण न करके प्रणव का जो वाच्यार्थ 'उद्‌गीथ' शब्द है, उस शब्द की उपासना से भी समस्त कामनायें सिद्ध हो सकती हैं। केवल 'उद्‌गीथ उद्‌गीठ' इस शब्द के ही निरन्तर जाप से वाणी विशुद्ध बन सकती है, अतः उद्‌गीथ शब्द की उपासना तथा सकामोपासना का वर्णन मैं आगे

करूँगा। आशा है आप इस प्रकरण को परम एकाग्रचित्त से श्रवण करने कृपा करेंगे।"

छप्पय

श्वास नाक मुख लेत, श्वास ही प्राण कहावै।
लेवैं पुनि प्रश्वास अपानहु वह कहलावै॥
उभय सन्धि है व्यान, व्यान की करै उपासन।
वाणी बोले व्यान माहिँ व्यान हि वानी जनु॥
वाक्, साम, ऋक्, प्रणव ये, एक उच्चरें व्यान में।
मन्थन, धावन, धनुपबल, कारज होवें व्यान में॥

'उद्गीथ' अक्षरों की और सकाम भाव में उपासना का फल

[६५]

अथखलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्नेन हीदꣳ सर्वꣳ स्थितम् ॥ ❀

(छा० उ० प्र० अ० ख० ३ म० ६)

छप्पय

स्वरग, सूर्य अरु साम तीनि हू 'उत्' के वाचक।
अन्तरिक्ष अरु अनिल यजुर्वेद हु 'गी' वाचक॥
भूमि, अग्नि, ऋक्, कहे 'थ' वाचक जो इनि जानें।
अक्षर जो 'उद्गीथ' उपासन करि हरि मानें॥
तिहि वानी दोहन करति, रहस प्रकट तिहिँ ढिँग करत।
भोग शक्ति होवै सतत, अन्न वस्तु सब घर भरत॥

❀ तदनन्तर अब 'उद्गीथ' इस प्रणववाचक शब्द के तीन अक्षरों की उपासना करनी चाहिये। 'उद्गीथ' इस शब्द मे प्राण 'उत्' वाचक है क्योंकि प्राणी प्राणो से ही उठा करता है। 'गी' वाणी वाचक है क्योंकि वाणी को 'गिरा' भी कहते हैं। थकार अन्न का वाचक है क्योंकि समस्त प्राणी अन्न मे ही थिर रहते हैं।

संस्कृत की एक उक्ति है, कोई भी अक्षर ऐसा नहीं जो मंत्र न हो, कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो ओषधि न हो, कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसमें कुछ न कुछ योग्यता न हो, किन्तु अक्षरों को मन्त्र बनाने वाला, कौन सी वस्तु किस रोग में कैसे प्रयुक्त की जानी चाहिये इसको जानने वाला, कौन सा व्यक्ति किस काम को कर सकता है, इसका परख करने वाला योजक संसार में दुर्लभ है।

हमारे ऋषि महर्षियों ने दीर्घकालीन तपस्या द्वारा, कठोर संयम द्वारा, चिर कालीन अनुष्ठानों द्वारा ऐसी शक्ति प्राप्त कर ली थी, कि उनके श्रीमुख से स्वत. ही छन्दोवद्ध मन्त्र निसृत हो जाया करते थे। समस्त मन्त्रों के सम्राट समस्त मन्त्रों के स्रोत स्थान प्रणव या ओंकार है। अ+उ और म् ये तीन अक्षर मिलकर प्रणव महामन्त्र बनता है। यह परब्रह्म परमात्मा का वाचक नाम है। इसके जप से, ध्यान से तथा मनन से समस्त सिद्धियाँ स्वतः ही प्राप्त हो सकती हैं। प्रणव शब्द का अर्थ है, आत्मा की अथवा अपने इष्टदेव की सम्यक् प्रकार से जिसके द्वारा स्तुति की जाय उसे प्रणव कहते हैं। (प्रकर्षेण नूयते=स्तूयते आत्मा अथवा स्व इष्ट देवता अनेन इति=प्रणव) जो प्रणव का अर्थ है वही ओम् का अर्थ है और उसी अर्थ में 'उद्‌गीथ' शब्द भी प्रयुक्त होता है। उद्‌गीथ अथवा प्रणव की आध्यात्मिक आधिदैविक उपासना बताकर केवल 'उद्‌गीथ' शब्द की आधिभौतिक उपासना बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक 'उद्‌गीथ' शब्द द्वारा भी भौतिक उपासना की जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—" 'उद्‌गीथ' शब्द द्वारा उपासना की जाती है ?"

सूतजी ने कहा—"उद्गीथ' 'उद्गीथ' 'उद्गीथ' इन शब्दों का ही जप किया करे। 'उद्गीथ' ये अक्षर प्रणव के वाचक हैं। ये स्वयं मन्त्र स्वरूप हैं।"

शौनकजी ने पूछा "उद्गीथ' इन अक्षरों में क्या विशेषता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जैसे अ+ऊ, म्, ये तीन अक्षर मिलकर ओंकार अथवा प्रणव बनता है। वैसे ही उद्+गी और थ ये तीन अक्षर मिलकर 'उद्गीथ' शब्द बनता है। इसमें प्राण, वाणी तथा अन्न इन तीनों का समावेश हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"उद्गीथ' शब्द में प्राण, वाणी और अन्न इन तीनों का समावेश कैसे हो जाता है ?"

सूतजी ने कहा—"उत्' शब्द का अर्थ है ऊपर उठना। प्राणों के ही द्वारा पुरुष ऊपर उठता है। प्राणहीन पुरुष उठ नहीं सकता। इसलिये 'उत्' का भावार्थ हुआ प्राण। दूसरा शब्द है 'गी' यह वाक् या वाणी का वाचक है। शिष्ट लोग वाणी को गिरा कहते हैं। अतः 'गी' से वाणी का बोध होता है। उद्+गी +थ, में तीसरा शब्द है 'थ'। थ शब्द का अर्थ है स्थित होना। जितने भी प्राणी हैं सब पृथ्वी में-अन्न में-ही स्थित रहते हैं। अतः अन्न और 'थ' अक्षर की समानता है। इस प्रकार 'उद्गीथ अक्षर प्राण, वाक् तथा अन्न इन तीनों का द्योतक है जो जगत् के कारण हैं। इसके अतिरिक्त 'उद्गीथ' शब्द त्रिलोक का भी बोधक है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! 'उदगीथ' शब्द त्रैलोक्य का बोधक कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"सबसे ऊपर का ऊँचा लोक द्यौ-स्वर्ग है। 'उद्गीथ' में जो 'उत्' शब्द है वह स्वर्ग का द्योतक है। सब

लोकों को जो गिरण करने से-निगल लेने से-अन्तरिक्ष-पृथ्वी और स्वर्ग के बीच के अन्तराल आकाश को 'गी' कहते हैं और समस्त प्राणियों की स्थिति-स्थान-होने से 'थ' करके पृथ्वी का बोध होता है, इसलिये उत्+गी+थ का अर्थ हुआ स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वी अर्थात् त्रैलोक्य। इसी प्रकार 'उद्गीथ' शब्द त्रिदेवमय भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! 'उदगीथ' शब्द त्रिदेवमय कैसे है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! देवताओं में आदित्य वायु और अग्नि ये ही तीन देव मुख्य हैं। इसमें से 'उत्' शब्द ही आदित्य वाचक है। 'गी' शब्द वायु वाचक है और 'थ' शब्द अग्नि वाचक है। थ शब्द स्थिर होने, महाग्रन्थि, ग्रन्थि ग्राह, भयानक, शिली, शिरशिज, दण्डी, भद्रकाली, शिलोच्चय, कृष्ण, बुद्धि, विकर्मा, दननाशाधिप, अमर, वरदा, भोगदा, केश, वामबाहु, रस और अनल अर्थात् अग्नि इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसलिये उत्+गी+थ, का अर्थ हुआ आदित्य वायु और अग्नि। इसके अतिरिक्त 'उदगीथ' शब्द वेदत्रयी अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"वेदत्रयी अर्थ में 'उद्गीथ' शब्द प्रयुक्त कैसे होता है?"

सूतजी ने कहा—"उत् से सामवेद, 'गी' से यजुर्वेद और 'थ' से ऋक्वेद का बोध होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"इस 'उद्गीथ' शब्द की उपासना का फल क्या है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जो मैंने ऊपर 'उद्गीथ' शब्द के अर्थ बताये हैं, उनके अर्थों को जो यथावत् जानकर केवल 'उद्-गीथ' इन अक्षरों की ही उपासना करता है, उसके लिये वाणी

का जो दोह है-वेदो का-वाक् का-जो तात्पर्य है, वह अपने आप प्रकट हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"वाणी के प्रकट होने से यहाँ अभिप्राय क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्रकट होने का अर्थ यही है कि जो प्रणववाची 'उद्गीथ' शब्द की उपासना करता है, इस शब्द का ही जो जप करता है, उसको समस्त वेदों का तात्पर्य अपने आप प्रकट हो जाता है। वह अन्नवान् होता है अर्थात् संसार की समस्त भोग सामग्रियाँ उसके सम्मुख स्वयं उपस्थित हो जाती हैं। साथ ही उन भोग सामग्रियों के भोगने की सामर्थ भी उसमें स्वतः ही आ जाती है, वह भोगो को भोगने में समर्थ होता है। यही 'उद्गीथ' अक्षरों की उपासना का फल है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह तो 'उद्गीथ' की निष्काम भाव से उपासना का फल हुआ। कोई कामना की पूर्ति के हेतु सकाम भाव से साम गायन द्वारा उपासना करें, तो उसकी मनोकामना पूर्ण नहीं होगी क्या ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वेद तो कल्पद्रुम हैं। जो जिस कामना से सामवेदादि मंत्रों द्वारा उपासना करता है, उसकी कामना अवश्य पूर्ण होती है, किन्तु उस साम की उपासना में सात बातों का ध्यान रखना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"वे सात बातें कौन-कौन-सी हैं ?"

सूतजी ने कहा—"(१) पहिली बात तो यह है कि सामवेद के द्वारा-जिस मंत्र के द्वारा अपने इष्ट की स्तुति करनी हो, उसे पहिले भली भाँति समझ ले। उसे उपसरण-अर्थात् चिंतन-कहते हैं। अपने ध्येय की जिस मंत्र से स्तुति करे अर्थात् अपने इष्टमंत्र की उत्पत्ति आदि क्रम से चिंतन करे। किस पद में कौन

स्वर है, कैसे इसका उच्चारण होगा। ऐसा समझकर मन्त्र को कठस्थ कर ले। उसे सदा स्मरण रखे। पुस्तक मे पढकर सकाम मन्त्रो की उपासना नहीं होती।

(२) दूसरी बात है—यह साम- अर्थात् गाये जाने वाला उपास्य मन्त्र-जिस ऋचा मे प्रतिष्ठित हो-उस ऋचा को भी याद कर ले।

(३) तीसरी बात यह है कि जिस ऋषि द्वारा उस मन्त्र का साक्षात्कार किया गया हो अर्थात् उस मन्त्र का जो ऋषि हो, उसका भी स्मरण रखे। प्रत्येक मन्त्र का ऋषि, देवता, छद और विनियोग पृथक् पृथक् होता है। यह मन्त्र किस ऋषि को प्राप्त हुआ इसका उपासना के पूर्व स्मरण कर ले।

(४) चौथी बात यह है, कि जिस मन्त्र के द्वारा हमें अपनी कामना पूर्ति के निमित्त उपासना करनी है, उस मन्त्र का देवता कौन है ? इसका भी चिन्तन करे, उस देव का भली भॉति स्मरण रखे।

(५) पॉचवी बात यह है, कि जिस मन्त्र के द्वारा स्तुति करनी है, वह मन्त्र किस छन्द मे है। देवता तथा ऋषि के साथ मन्त्र के छद को भी स्मरण रखना चाहिये।

(६) छठी बात यह है, कि यह जो अपना इष्ट मन्त्र है यह किस स्तोत्र समूह-किस स्तोम-का है उस स्तोत्र का भी स्मरण रखे। एक स्तोत्र में कई मन्त्र होते हैं। तो जिस स्तोत्र समूह का अपना मन्त्र है उस स्तोत्र का भी चिंतन करे।

(७) सातवीं बात यह है, कि जिस दिशा मे स्तुति करनी हो, उस दिशा का-उस दिशा के अधिष्ठातृ देव सहित चिंतन करे।

ये सात बातें तो मन्त्र के सम्बन्ध मे हुईं। अब चिंतन करने

वाले उद्गाता के सम्बन्ध में बताते हैं, कि उपासक अपने स्वरूप का–अपने नाम गोत्र का भी स्मरण करे। मैं अमुक गोत्र वाला, अमुक वर्ण वाला, अमुक कामना की सिद्धि के निमित्त स्तुति करता हूँ। इस प्रकार इन सब बातों का स्मरण रखकर जो अप्रमत्त होकर–अर्थात् बड़ी सावधानी से–स्वर, ऊष्म तथा व्यंजनादि वर्णों के उच्चारण मे प्रमाद न करता हुआ अपने इष्टदेव की ध्यान पूर्वक स्तुति करता है, ऐसा साधक-अचिरात्-शीघ्र ही अपनी कामना को प्राप्त कर सकता है। उसकी मनो-कामना अपने इष्ट मंत्र की उपासना द्वारा अवश्य ही समृद्ध-शालिनी--फलवती–होती है, अर्थात् वह अपनी कामना पूर्ति मे सफल हो जाता है!"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सकाम भाव से उपासना करना अच्छा है क्या?"

सूतजी ने कहा—मुनिवर! निष्कामभाव से उपासना की जाय, तब तो कहना ही क्या है, यह तो सर्वोत्तम पक्ष है, किन्तु सभी लोग निष्काम भाव से उपासना नहीं कर सकते। कोई आर्त होकर, कोई जिज्ञासु बनकर, कोई अर्थार्थी बनकर उपासना करते हैं, कोई-कोई ज्ञाननिष्ठ बिना किसी कामना के निष्काम भाव से भी उपासना करते हैं। गीता में भगवान् ने चारों को ही सुकृति कहा है।"

शौनकजी ने कहा–"सूतजी! कहाँ ज्ञानी, कहाँ अर्थार्थी और आर्त। अर्थार्थी तो स्वार्थी है, वह सुकृति कैसे हो सकता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! अर्थार्थी ही सही, आर्त ही सही, किन्तु वह अर्थ की याचना इन धन दुर्मद संसारी विषयी पुरुषों से तो नहीं करता। अपने दुःख को विषयियों से निवारण की प्रार्थना तो नहीं करता। वह अर्थ के लिये दुःख-दूर कराने

के लिये जाता तो परमात्मा की ही शरण में है। जो किसी भी भाव से भगवान् की शरण में जाता है, वह तो सुकृति है, फिर ज्ञानी को तो भगवान् ने अपनी आत्मा ही कहा है। किसी भी भाव से भगवान् की शरण लेने वाला परम सुकृति ही है। उपनिषद्-कार ने ओंकार की उपासना पर अत्यधिक बल दिया है, अब आगे उद्गीथ संज्ञक ओंकार उपासना के ही सम्बन्ध में बताया जायगा। इस बात को ऋषि एक सुन्दर आख्यायिका के रूप मे कहेंगे। आशा है आप इस प्रसंग को प्रेम पूर्वक श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

अब उपासना कहें कामना सहित करें जो।
सात बात इस्मरण ररें जन कामार्थी सो॥
इष्टमन्त्र, अरु ऋचा, देवता, मंत्र, छन्द, ऋषि।
स्तुति समूह अरु दिशा करें चिंतन इनिहिय बसि॥
निज अभिलाषा सुमिरिकें, सावधान ह्वै ध्यान तें।
इस्तुति करि फल पाई सो, मन्त्र सामके गान तें।

इति छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
तृतीय खण्ड समाप्त।

उद्गीथ संज्ञक ओंकार उपासना से अमृतत्व की प्राप्ति

[६६]

ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ।
ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥*

(छा० उ० प्र० प० ४ ख० १ मं)

छप्पय

मृत्युभीत सुर घुसे वेद छदनि के माहीं ।
मन्त्रनि कवच बनाइ छिपे ते छन्द कहाहीं ॥
मृत्यु तहाँ सुर लखे मत्स्य जल धीवर देखत ।
ओंकार उद्गीथ उपासन अमर करत नित ॥
ऐसी मन सुर सोचिकें, ओम् माहिँ प्रविसे तुरत ।
तातैं पढ़ि वेदत्रयी, उच्चारन ओमहिँ करत ॥

यह पृथ्वी का प्राणी मर्त्य कहलाता है, क्योंकि मृत्यु इसके पीछे पडी रहती है। पृथ्वी को छोडकर अन्य लोकों में मृत्यु की दाल

---

* ओम् यह उद्गीथ संज्ञक है। इस प्रकार इसकी उपासना करने योग्य है। ॐ बालकर ही उद्गाता उद्गान करता है। उसी ओंकार की उपव्याख्या की जाती है।

नहीं गलती। मृत्यु केवल भूलोक में ही होती है। अन्य पुण्य लोकों में मृत्यु नहीं पहुँचती। वहाँ के प्राणी मरते नहीं। पुण्य क्षय होने पर वे नीचे धकेल दिये जाते हैं। उन दिव्य लोकों में रहने वाले देवता कहलाते हे। उनके अमर, निर्जर, अमर्त्य, देवता आदि बहुत नाम हैं। देवता मृत्यु के चक्कर से कैसे बच गये? वे केवल ॐ का सहारा लेने से ही बच गये। इस सम्बन्ध की जो कथा है, उसे सुनें, उससे पता चलेगा ओंकार से कैसे अमृतत्व की प्राप्ति होती हे। वास्तव में देवता तो नाम मात्र के अमर हैं, उन्हें भी सदा पतन का खटका बना रहता है, सभी लोकों में किसी न किसी रूप में मृत्यु का भय बना ही रहता हे, किसी भी लोक में क्यों न चले जाओ जीव निर्भय नहीं हो सकता। जब जीव सर्वोत्तम भाव से भगवान् के चरणारविन्दों का आश्रय ले लेता है, तब वह तान दुपट्टा सुख की नींद सोता है। तभी मृत्यु उसका पीछा करना छोड़कर लौट आती है। वास्तव में अमर वही हे जिसने परमात्मा का-परमात्मा के वाचक प्रणव नाम मन्त्र का-आश्रय ले लिया हो। ये देवता भी प्रणव के सहारे से ही मृत्यु से बच सके हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ॐ अक्षर ही, इसकी 'उद्गीथ' संज्ञा है, क्योंकि इसी का वेदों के आरम्भ में वेदों के अन्त में उच्च स्वर से गायन किया जाता है। इसीलिये ॐ इसकी उपसना करे। उद्गाता नाम का जो यज्ञों में ऋत्विज होता है, वह जिस ॐ का उच्च स्वर से गायन करता हे, उसकी उपव्याख्या की जाती है, इस सम्बन्ध की एक प्राचीन आख्यायिका है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ओंकार के सम्बन्ध की कौन-सी आख्यायिका है, कृपा करके उसे हमें भी सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात हे भगवन्! सुनिये, मैं उस

आख्यायिका को सुनाता हूँ। ब्रह्माजी ने मृत्यु को यही काम सौंपा था, कि वह जावा को मार मारकर लाया करे। देवताओं ने देखा, मृत्यु हम मारने का घात में है, अत. वे मृत्यु से भयभीत होकर कहा सुरक्षित स्थान मे छिपने के लिये भगे, जहाँ मृत्यु उन्हे देख न सके। उन्होने सोचा—'ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद जो यह वेदत्रयी है, इसके जो मन्त्र हैं, वे बहुत ही पवित्र हैं, इनमे छिप जाय, तो हमें मृत्यु देख न सकेगा। इसलिये देवतागण वेद मन्त्रो के ढेर मे घुस गये। ऊपर से भी वेद मन्त्र, नीचे से भी वेद मन्त्र,, दायें से भी वेद मन्त्र, बायें से भी वेद मन्त्र कहने का सार यही कि उन्होंने ने चारो ओर से अपने को वेद मत्रों से अन्छादित कर लिया। उन्हें अपने बचन का कवच बना लिया, तभी से वेद मत्रो का नाम छन्द पड गया। छन्द शब्द का अर्थ है जो छिपा ले-छादन कर ले-(छादयति=इति छन्दः)

देवताओं ने अपनी ओर से तोमृत्यु से बचने का पूरा प्रयत्न किया, किन्तु मृत्यु भी पूरा घाघ है, उसके नेत्र अत्यन्त तीक्ष्ण हैं। जैसे जल के भीतर छिपी हुई मछलियो को मछली मारने वाला मछुआ-धीवर-देख ही लेता है और उसी स्थान पर जाल डाल देता है, उसी प्रकार वेद मन्त्रों में छिपे देवताओं को मृत्यु ने वहाँ भी देख ही लिया। देवता भी समझ गये, यहाँ भी हमारी दाल नहीं गलन की। इतना छिपाने पर भी हमें यहाँ मृत्यु ने देख लिया है, अतः वे ऋक्, यजु और साम के विस्तृत मत्रों से ऊपर उठकर स्वर मे-प्रणव मे-अर्थात् ओंकार म प्रवेश कर गये। वह स्वर-ओंकार-वेदो का अन्त है। समस्त वेदो का समावेश ओंकार मे ही है। वह मृत्यु की पहुँच से बाहर है। अतः देवता मृत्यु से रहित अमर्त्य-अमर- हो गये। ओंकार के प्रभाव से।

शौनकजी ने पूछा—"यह स्वर ॐ का वाच्यार्थ कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जब अध्ययन करने वाला अध्ययन के द्वारा ऋकवेद को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् ऋकवेद को पढने के अनन्तर ॐ ऐसा उच्चारण बडे आदर से करता है। इसी प्रकार सामवेद या यजुर्वेद को भी पढने के अनन्तर ॐ का आदर पूर्वक उच्चारण करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ॐ का ही उच्चारण क्यों करते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ॐ का उच्चारण इसलिये करते हैं यह अक्षर है। इसका क्षर नाश नहीं होता। अविनाशी तो एकमात्र परमात्मा ही है। यह अक्षर परमात्मा का वाचक है। यह अमृत और अभय रूप है। यह मृत्यु से छुडाकर अभय प्रदान करने वाला स्वर है। अ-क्षर है। इस आकार का आश्रय लेकर-इसमें प्रविष्ट होकर देवगण अमृत-मृत्यु से रहित होकर-अभय हो गये। उन्हें अब मृत्यु का भय नहीं रहा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जो पुरुष ओंकार को इस रूप में जानता है। जो इस अक्षर ब्रह्म की उपासना करता है, इसकी स्तुति करता है। वह इस स्वर रूप अमृत और अभय रूप कभी क्षर-नाश न होने वाले-अविनाशी अक्षर में प्रविष्ट हो जाता है। इसमें प्रवेश करके वह मृत्यु के चगुल स उसी प्रकार छुटकारा पा जाता है, जैसे देवता आकर का आश्रय लेकर अमर हो गये। वह भी अमर और निर्भय बन जाता है। यह मैंने आप से ओंकार के आश्रय से अमृतत्व प्राप्त करने की गाथा कही। अब जैसे सूर्य और प्राण के रूप में ओंकार की उपासना है, उसका वर्णन में आगे करूँगा।"

छप्पय

ओम् वाच्य परमात्म ताहि स्वर वेद बतावैं।
भय अरु मृत्यु छुड़ाय अभय सुर अमर कहावैं ॥
यों उपासना ओंकार का करें उपासक।
अमृत रूप भय रहित ओम् में प्रविसें साधक ॥
प्रणव शरण में जाइकें, अमृत होइ निर्भय सतत।
सुर स्वर जपि ओंकार कूँ, अमर भये अरु भय रहित ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
चतुर्थ खण्ड समाप्त।

सूर्य और प्राणरूप में ओंकार की उपासना

[६७]

अथ खलु य उद्‌गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्‌गीथ इति। असौ वा आदित्य उद्‌गीथ एष प्रणवः। ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥१॥*

(छा० उ० प्र० ५० ५ ख० १ मं०)

छप्पय

गावें सो उद्‌गीथ ताहि ओंकार बतावें।
नामी नाम अभेद सूर्य उद्‌गीथ कहावें॥
स्वरन् करत नित चलत सूर्य संज्ञा यों तिनिकी।
कौषीतकि-सुत कह्यो उपासन करि सूरज की॥
श्वास-श्वास में ओम् ध्वनि, होति धारणा जो करत।
प्राण प्रणव रवि एक जपि, कौषीतकि सुत तैं कहत॥

---

* तदनन्तर कहते हैं—"जो उद्‌गीथ है, वही प्रणव है, जो प्रणव है वही उद्‌गीथ है। ऐसा निश्चय करके कहते हैं। यह जो आदित्य है वह भी उद्‌गीथ है और यही प्रणव भी है। यह आदित्य ओंकार का उच्चारण करता हुआ—स्वरन् करता हुआ—गमन करता है इसीलिये यह 'सूर्य' कहलाते हैं। यही सूर्य शब्द की व्युत्पत्ति है।"

सूर्यनारायण, नाद ब्रह्म और प्रणव मंत्र इन तीन द्वारा ब्रह्म की उपासना करना भारत की प्राचीन परम्परा है। अधर्म के प्रचार प्रसार से तथा धर्म से निरपेक्ष रहने की शासकों की नीति से अब अधिकांश लोगों की धर्म आस्था शिथिल पड़ गयी है, नहीं तो आज से कुछ काल पूर्व ही ग्रामीण से ग्रामीण, अपढ़ से अपढ़ प्राणी भी स्नान करके एक लोटा पानी सूर्य को चढ़ाया करता था। प्रत्येक शिखा सूत्रधारी भारतीय और कुछ भी पूजा पाठ भले ही न कर सके, किन्तु नदी में, तालाब मे, कल में तथा कूप पर कहीं भी कभी भी स्नान करता था, तो सूर्य को जल चढ़ाकर एक परिक्रमा अवश्य कर लेता था। सूर्य ही एक ऐसे प्रत्यक्ष देवता है, जो सबको दृष्टिगोचर होते है और आबाल वृद्ध नर-नारी किसी-न-किसी रूप में इनका सम्मान करते हैं। द्विजाति गण, प्रातः मध्यान्ह तथा सायंकाल में अर्घ्य, उपस्थान और जप के द्वारा, सर्वसाधारण लोग केवल अर्घ्य द्वारा सूर्य का सम्मान करते हैं। भगवान् सूर्यनारायण की आधिभौतिक, आधि-दैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की उपासना होती है।

नाद को–स्वर को–भी ब्रह्म बताया है। साम गायन द्वारा–संगीत द्वारा–नाद की–स्वर की–उपासना की जाती है। नाद में चित्त लय हो जाने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। काल-क्रम से शास्त्रीय संगीत का ह्रास हो जाने से अब सामगायकों का अभाव-सा हो गया है। अब सस्वर–शास्त्रीय विधि से साम-गायन करने वाले मिलते नहीं। साम का एक 'उद्गीथ' नाम का भाग है, वह मानो प्रणव का–ओंकार का–स्वरूप ही है। उस उद्गीथ के यथावत् गायन से ब्रह्म साक्षात्कार तक हो सकता है, इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति तो उसका साधारण फल है।

प्रणव के जप, चिंतन मनन से भी ब्रह्म साक्षात्कार होता

है। किन्तु प्रणव के जप के सभी अधिकारी नहीं होते। जिन्होंने वैदिक कर्मों द्वारा तथा उपासना द्वारा अपने शरीर तथा अन्तः-करण के मल, विक्षेप और आवरणों को हटाया नहीं, ऐसे मलिन अन्तःकरण वाले पुरुष प्रणव के जप के अधिकारी नहीं। इस ब्रह्मवाचक मंत्र के अधिकारी निष्काम कर्मी वीतरागी त्यागी सन्यासी ही हैं।

सूर्योपासना, स्वर-उपासना और प्रणवोपासना वास्तव में एक ही हैं और तीनों का फल भी समान ही है। पात्र भेद से इनमें भेद दृष्टिगोचर होता है। प्राचीनकाल में वेद मंत्रों द्वारा ही उपासना की जाती थी। नित्य वेदों का स्वाध्याय करने वाले संयमी तपस्वी, त्यागी वेद पाठियों में वेद पाठ से इतनी सामर्थ्य आ जाती थी, कि वे मुख से जो कह देते थे, वह ही हो जाता था। अब वह परम्परा नष्ट-प्राय हो गयी। अब तो प्रणव के स्थान पर भगवन्नाम और वैदिक उपासना के स्थान पर भगवद्भक्ति ही आधार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ओंकार की आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा और भी उपासनाओं के सम्बन्ध में बताया गया। अब अन्य प्रकार से प्रणव के सम्बन्ध में बताते हैं। सामवेदीय जिन मंत्रों का उच्चस्वर से गायन करते हैं, उन्हें 'उद्गीथ' कहते हैं। उसका मूल आधार ओंकार है। ऋग्वेदीय मन्त्रों के पूर्व ओंकार का उच्चारण करते हैं, वही प्रणव है। 'उद्गीथ' कहो 'प्रणव' कहो, दोनों में कोई भेद नहीं। एक ही बात है। ये जो प्रत्यक्ष देव सूर्यनारायण दिखायी देते है, वे भी 'उद्गीथ' अथवा 'प्रणव' ही हैं। इनका नाम सूर्य इसीलिये पड़ा, कि ये उदयाचल से उदय होते हुए ओम्-ओम् इस प्रकार उच्चारण

करते हुए ही गमन करते हैं (स्वरन्+सन=एति=उद्यति इति) यहा सब शब्द की व्याख्या है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रणव शब्द का अर्थ क्या हुआ ?"

सूतजी ने कहा—"(प्रकर्षेण नमयति–अथवा प्रणामयति नामयति–इति प्रणवः) जिस आकार के उच्चारण करने से ऋक्, यजु और साम ये तीनों वेद ब्रह्मवेताओं के लिये प्रणाम कराता है उसका नाम प्रणव है। अथवा (प्राणान सर्वान् परमात्मनि प्रणानयति—इति प्रणवः) जो समस्त प्राणों को परमात्मा में लगावे। प्रणव वेदों का सार है, समस्त श्रुतियों का आदि कारण है। प्रणव के बिना श्रुतियाँ कुछ भी करने में समर्थ नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूर्य की उद्गीथ रूप में उपासना कैसे करे ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! सूर्य को ही उद्गीथ मानकर–उन्हें ही प्रणव समझकर उनकी उपासना करे। इस विषय की एक कथा है। एक कौषीतकी नामक ऋषि थे। उन्होंने अपने एक-मात्र पुत्र से कहा—"बेटा ! मैंने इन सूर्यनारायण प्रत्यक्ष देव की उद्गीथ रूप में उपासना की थी। अर्थात् साम का जो उद्गीथ है, उसका वाच्यार्थ सूर्य ही हैं इस भावना से मैंने इनका भजन किया था, अतः इसका परिणाम यह हुआ कि मेरे तू अकेला ही पुत्र हुआ। सूर्य में और सूर्य किरणों में अभेद है, अतः तू किरणों सहित सूर्य की उद्गीथ रूप से उपासना कर। सूर्य की किरणें बहुत हैं अतः तेरे बहुत पुत्र होंगे।" इस प्रकार यह सूर्य देवता से सम्बन्ध रखने वाली आधिदैविक उपासना है। एक शरीर से सम्बन्ध रखने वाली आध्यात्मिक उपासना और भी है।

शौनकजी ने पूछा—"शरीर से सम्बन्ध रखने वाली आध्यात्मिक उपासना का प्रकार क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"वह प्राणोपासना है। उद्गीथ-गाने योग्य-परमात्मा ही है। जो मुख्य प्राण है जो श्वास के रूप में नाक तथा मुख से निकलता है, उसी के द्वारा परमात्मा की उपासना करनी चाहिये क्योंकि यह प्राण ओम् का उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है। यह प्राण और सूर्य में भी अभेद है। क्योंकि सूर्य भी शब्द करता हुआ गमन करता है और प्राण भी शब्द करता हुआ गमन करता है। दोनों ही ओम् का उच्चारण करते हुए चलते हैं। ओ से प्राण बाहर जाता है, म् से भीतर। अतः श्वास के साथ ओम् की भावना करते हुए परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। इस विषय में भी कौपीतकि ऋषि की गाथा है।"

कौपीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से यह बात कही थी—"वत्स! मैंने प्राण को ही लक्ष्य करके प्राण के साथ ओम् का तादात्म्य भाव करके-इसी में परमात्मा की भावना करते हुए ओंकार का गान किया था। इसके परिणाम स्वरूप तू मेरे एक ही पुत्र हुआ। तू दशधा रूप में प्रतिष्ठित प्राण को-अनेक रूपों वाला मानकर परमात्मभाव से उपासना कर इससे तेरे बहुत पुत्र होंगे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! पहिले तो कौपीतकि मुनि ने अपने पुत्र से सूर्य रूप में ओंकार की उपासना का उपदेश दिया था, दुबारा प्राण रूप से उपासना करने को कहा, यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"इससे उन्होंने सूर्य तथा प्राण की एकता का-तादात्म्यता का-वर्णन किया। अर्थात् चाहे तुम सूर्यरूप में उपासना करो, चाहें प्राण रूप में। बात एक ही है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवती श्रुति ने प्रणव और उद्गीथ की एकता का वर्णन किया। कहने का

तात्पर्य यह है कि यज्ञों में जो सामवेद का उद्गाता ऋत्विज् उद्गीथ रूप में जिसका गान करता है और ऋग्वेद का होता जिसका प्रणव रूप में गायन करता है दोनों एक ही हैं। जो प्रणव है वही उदगीथ है और जो उदगीथ है वही प्रणव है। इस रहस्य को जो जानता है वह होता के आसन से ही उदगाता द्वारा दोषयुक्त उदगान को प्रणव के उच्चारण से सुधार लेता है क्योंकि प्रणव परमात्मा का वाचक नाम है और भगवन्नाम उच्चारण मन्त्र-तन्त्र, देश, काल, वस्तु आदि से हुई अशुद्धि को निश्छिद्र कर देता है। सब कर्मों को परिपूर्ण बना देता है। यह मैंने आपसे सूर्य और प्राण रूप में ओंकार की उपासना का प्रकार बताया, अब उद्गीथ की विविध रूपों में उपासना कैसे करनी चाहिये, इस विषय को बताऊँगा। इसे आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

मुख्य प्रान हौं गान कर्यो तू सुत मम एकहिँ।
होवैं बहु सुत गान करैं प्राननि बहु रूपहिँ॥
साम भाग उद्गीथ प्रणव वह सार सबनि को।
प्रणव वही उद्गीथ भेद नहिँ इनि दाउनि को॥
दोष युक्त उद्गान कूँ, दोषमुक्त प्रणवहिँ करत।
नामोच्चारण यज्ञत्रटि, दूरि करत दोषहि नसत॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
पञ्चम खण्ड समाप्त।

त्रिविध भाँति की आधिदैविक उद्गीथोपासनायें

[६८]

इयमेवर्गग्नि साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम तस्मा-
दृच्यध्यूढ ँ साम गीयत इयमेव साऽग्निरमस्तत्साम १। *

(छा० उ० प्र० अ० ६ ख० १ म०)

छप्पय

भू ऋक्, अग्निहि साम, साम ऋक् माहिँ अवस्थित।
'सा' भू 'अम' ही अग्नि गानउद्गाता करि नित॥
अन्तरिक्ष ऋक्, वायु–साम ऋक् माहिँ अधिष्ठित।
अन्तरिक्ष 'सा' वायु 'अम' हिँ दोऊ एकहिँ चित॥
द्यौ ऋक्, सूर्यहि साम है, सूर्य अधिष्ठित साम महँ।
ऋक् थित सामहिँ गान करि, 'सा' 'अम' द्यौ रवि एक तहँ॥

यह चराचर जगत उन परमात्मा का ही रूप है। किसी भी रूप से परमात्मा की उपासना की जाय, वह परमात्मा को ही प्राप्त होगी। जैसे आकाश से वर्षा हुआ पानी चाहे छोटी नदियों

---

* यह पृथ्वी ऋग्वेद है, अग्नि सामवेद है। वह यह साम अधिष्ठित है ऋग्वेद में। अत ऋक् मे अधिष्ठित साम का ही उद्गाता गान करते हैं। पृथ्वी ही 'सा' है 'अम' यह अग्नि है। इस प्रकार सा और अम मिलकर ही साम बन जाता है।

मे गिरे, तालाबों मे, कुओं मे, बड़े-बड़े नदों में, नदियों में, बालू में, मैदान में, कहीं भी क्यों न गिरे, वह इर फिर कर समुद्र में ही पहुँच जायगा। इसी प्रकार परमात्मा के किसी नाम को, किसी रूप को नमस्कार करो, उसकी किसी भी रूप से उपासना करो, वह परब्रह्म परमात्मा को ही प्राप्त हो जायगी।

पहिले यज्ञों मे उद्गाता लोग उद्गीथ द्वारा साम का गान किया करते थे। आधिदैविक उपासना में साम गायन की प्रधानता है। साम ही भगवान् की वेदों में सर्वोत्तम विभूति है। वह साम है क्या ? साम कहते हैं शांति को। जो अपने गायन द्वारा दुःखों का छेदन कर दे, श्रोता तथा वक्ता को सुखी बना दे। उसी का नाम साम है (स्यति–छिनति दुःखं–गेयत्वात् इति= साम) साम गायन से दुःख का नाश होता है। किन्तु साम गायन सरल नहीं है, यह बहुत कठिन है अत्यन्त परिश्रम से साम गायन आता है, अतः कोई-कोई साम का अर्थ यह भी करते हैं–जो दुरध्येय होने के कारण पाठक को दुःख देता है, वह साम है (स्यति—दुःखयति—दुरध्येयत्वात् इति–साम)।

यह साम ऋग्वेद का ही एक रूप है। जिनके अक्षर, पाद और समाप्ति ये सब नियत संख्या के अनुसार होते हों, उन मंत्रों को ऋक् कहते है, जिनसे देवताओं की स्तुति की जाती है। ऋक् संज्ञक मन्त्रों में ही जो गीत प्रधान हैं-जो ताल स्वर लय के साथ गाये जाते हों–उन्हीं की साम संज्ञा ह। अतः ऋक् में और साम मे कोई भेद नहीं। उसी साम के एक भाग को 'उद्गीथ' कहते हैं। उद्गीथ का अर्थ है–जो गायन हमें पृथ्वी से उठाकर ऊपर के लोकों को ले जाय, वह उद्गीथ है। उस साम गायन उद्गीथ की अनेक वस्तुओं से एकता करके देव भाव से उपासना

करने को उद्गीथ की आधिदैविक उपासना कहते हैं। ऐसी कई एकता की उपासना का वर्णन किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब उद्गीथ जो सामवेद का एक भाग है, उसकी अनेक प्रकार की उपासनाओं का वर्णन करते हैं। जैसे पृथ्वी है और अग्नि है, इन दोनों को मिलाकर तब उद्गीथ की उपासना करे।"

शौनकजी ने पूछा—"पृथ्वी और अग्नि से उद्गीथ का क्या सम्बन्ध ?"

सूतजी ने कहा—"उद्गीथ है क्या ? साम ही उद्गीथ है। साम क्या है, ऋक्वेद के जो गेय मन्त्र हैं वे ही साम हैं। जैसे साम और ऋक् एक है वैसे ही पृथ्वी और अग्नि भी एक है, ये ही दोनों मिलकर जीवन चलाते हैं। पृथ्वी का अर्थ है अन्न। अन्न को अग्नि पकाती है। अग्नि अन्न को पकाना बन्द कर दे तो कोई प्राणी जीवित ही न रहे। एक बार भृगु मुनि ने अग्नि को सर्वभक्षी होने का शाप दे दिया। इससे अग्निदेव बड़े कुपित हुये, उन्होंने अन्न को पचाने का काम बन्द कर दिया। इससे तीनों लोकों के जीव मरने लगे। तब देवता दौड़े-दौड़े ब्रह्माजी के पास गये। अपना दु:खड़ा रोया। ब्रह्माजी स्वयं अग्नि के पास आये और बोले—"भैया! तुमने अपना काम बन्द क्यों कर दिया है। तुम्हारे बिना तो त्रैलोक्य का नाश ही हो जायगा।"

अग्नि ने कहा—"महाराज! भृगु मुनि ने मुझे सर्वभक्षी होने का शाप दिया है। जब मैं निकृष्ट वस्तुओं को खाने लगूँगा, तो मुझे कौन पूछेगा ? सभी मुझे अशुद्ध समझकर घृणा करेंगे। सर्वभक्षी होना तो बड़ा निकृष्ट है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भृगु की बात पर ध्यान मत दो। मैं तो भृगु का भी बाप हूँ। मैं कहता हूँ तुम सर्वभक्षी होने पर भी

पावक, पवमान, परम पवित्र सबको पावन बनाने वाले कहलाओगे। अतः जैसे पृथ्वी सब का आधार है वैसे ही अग्नि सबका जीवन है। अतः यह पृथ्वी ही ऋक्वेद है और अग्नि ही सामवेद है। जैसे सामवेद ऋग्वेद में ही प्रतिष्ठित है उसी प्रकार अग्नि रूप सामवेद पृथ्वी रूप ऋग्वेद में ही प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋग्वेद में प्रतिष्ठित सामवेद का ही गान किया है।"

शौनकजी ने कहा—"पृथ्वी और अग्नि की सामवेद से एकता किस प्रकार है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भगवती श्रुति कहती है 'साम' शब्द में एक 'सा' है और दूसरा 'अम' है। इसमें पृथ्वी ही 'सा' है और अग्नि ही 'अम' है। दोनों मिलकर साम शब्द बना है। इसलिये पृथ्वी और अग्नि दोनों को एक मानकर कुण्ड में जलती हुई अग्नि को ही ब्रह्म मानकर उसकी 'उद्‌गीथ' से महिमा गाकर उसकी परमात्म रूप से उपासना करनी चाहिये कि हे अग्ने ! हमें सुपथ में ले चलो। एक तो पृथ्वी अग्नि की एकता से उद्‌गीथ की यह उपासना हुई। अब दूसरे प्रकार की उपासना सुनो।"

अन्तरिक्ष और वायु ये भी दो जीवन के आधार हैं। अंतरिक्ष में ही वायु चलती है। पृथ्वी और स्वर्ग के बीच का आकाश या अवकाश अन्तरिक्ष कहलाता है। अन्तरिक्ष न हो तो वायु न चले। वायु न चले, तो कोई प्राणी जीवित ही न रहे। अतः अन्तरिक्ष में स्थित वायु की एकता करके उनकी उद्‌गीथ द्वारा स्तुति करके उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"अन्तरिक्ष और वायु की एकता कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे ऋक् और साम की एकता के समान पृथ्वी और अग्नि की एकता बतायी वैसे ही यहाँ अन्तरिक्ष ऋक

है, उसमे विचरण करने वाला वायु ही साम है। वह वायु रूप साम अन्तरिक्ष रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक् प्रतिष्ठित साम का ही उदगीथ रूप मे गान किया जाता है। 'सा' करके अन्तरिक्ष और 'अम' करके वायु को लेना चाहिये। दोनो मिलकर ही सामरूप हैं। इसलिये अन्तरिक्ष मे स्थित वायु को परमात्मा का रूप मानकर दोनों की एकता करके साम उदगीथ द्वारा उसकी उपासना करनी चाहिये-स्तुति करनी चाहिये। अन्तरिक्ष मे स्थित वायु भी परमात्मा का रूप ही है। अब तीसरे प्रकार से उद्गीथ उपासना बताते हैं।

द्यौ-स्वर्ग- ही ऋग्वेद स्वरूप है, उसमें विचरण करने वाले आदित्य-सूर्य ही साम है। ये जो सूर्य रूप में सामवेद हैं वे द्यौ रूप-स्वर्गरूप-ऋग्वेद मे अधिष्ठित हैं। अर्थात् जैसे साम ऋक् मे अधिष्ठित है वैसे ही सूर्य नारायण स्वर्ग में अधिष्ठित हैं। सूर्य का अधिष्ठान-रहने का स्थान-स्वर्ग है। जैसे यद्यपि ऋक् और साम एक ही हैं, किन्तु गान ऋक् अधिष्ठित साम का ही किया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि स्वर्ग और सूर्य एक ही हैं, किन्तु उपासना स्वर्ग में अधिष्ठित सूर्य नारायण की ही की जाती है। स्वर्ग और सूर्य दोनो मिलकर साम हैं। साम मे 'सा' और 'अम' दो शब्द हैं। उनमे 'सा' से अन्तरिक्ष समझना चाहिये और 'अम' से आदित्य। इसी प्रकार ये दोनों मिलकर साम बन गये। इसीलिये उद्गीथ द्वारा स्वर्गस्थ सूर्य को परमात्मा मानकर उनकी स्तुति उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूर्य मे परब्रह्म परमात्मा की उपासना कैसे करनी चाहिये ? क्या सूर्य की किरणों को परमात्मा माने या जो थाली की भाँति गोल-गोल लाल सूर्य दीखता है, उसकी उपासना करे ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! थाली-सी जो गोल-गोल सूर्य की आकृति दीखती है या उसकी जो सुवर्ण वर्ण की किरणें दिखाई देती हैं, ये तो सूर्य के आधिभौतिक वाह्य रूप हैं। इस गोल आकृति के भीतर जो एक पुरुषाकार देवता है, उसे ही परब्रह्म मानकर उसकी उपासना करने का विधान है। उसका वर्णन आगे किया जायगा। अब चौथे प्रकार से उद्गीथ की उपासना बताते हैं।"

ये जो आकाश मंडल में असंख्यों नक्षत्र दिखायी देते हैं। मानों ये समस्त नक्षत्र ही ऋग्वेद का स्वरूप हैं। इन सब नक्षत्रों के मध्य में जो इन सबका स्वामी चन्द्रमा अवस्थित है, वही मानो साम है। जैसे चन्द्रमा रूप साम नक्षत्र रुप ऋग्वेद में अधिष्ठित है–स्थित है फिर भी गान साम का ही किया जाता है, उसी प्रकार यद्यपि नक्षत्रों के मध्य में ही चन्द्रमा अवस्थित है, फिर भी उद्गीथ द्वारा ताराओं में स्थित चन्द्रमा की ही उपासना की जाती है। साम में 'सा' और 'अम' दो अक्षर है इनमें नक्षत्र ही 'सा' है और चन्द्रमा ही 'अम' है दोनो मिलकर जैसे साम कहलाते हैं, वैसे ही नक्षत्र और चन्द्रमा मिलकर चन्द्ररूप में परमात्मा कहलाते हैं, उन्हीं की उद्गीथ द्वारा कीर्ति का वखान करना चाहिये, उन्हीं की स्तुति तथा उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वह बात तो रह ही गयी, सूर्य में स्थित जो एक आधिदैविक रूप है उसकी परमात्म भावना से उपासना कैसे की जाय ?"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है ब्रह्मन् ! अब आगे उसी का वर्णन किया जायगा। आप इस दिव्यातिदिव्य परम पावन प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

ऋक् ही है नक्षत्र चन्द्रमा साम बतायो।
चन्द्ररूप यह सामवेद ऋक् माहिँ समायो॥
ऋक् में अग्रथित साम गान सामहिँ को होवै।
त्यों नक्षत्रहिँ चन्द्र उपासन तिनि की होवै॥
'सा' नक्षत्र समान है, 'अम' कूँ चन्द्र समान कहिँ।
साम होहिं मिलिकें उभय, गावैं उद्गाता तिनहिँ॥

—⦾—

आदित्य में हिरण्मय पुरुष की आधिदैविक उद्गीथोपासना

[६६]

अथ यदेवैतदादित्य शुक्लं भाः सैव साऽथयन्नीलम् । परः कृष्णं तदमस्तत्सामाऽथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥*

(छा० उ० प्र० प्र० ६ खं० ६ म०)

छप्पय

शुक्ल ज्योति रवि ऋक्हि श्यामता नील साम है ।
ऋक्हिँ अधिष्ठित साम गान के जोग्य साम है ॥
'सा' ही शुक्ल प्रकाश श्याम नीलहिँ 'अम' मानों ।
नख शिख सब रंग कनक मूँछ दाढ़ीयुत जानों ॥
अरुन वरन के नयन वर, लाल कमल आभा अमित ।
सब पापनि ऊँचे उठयो, तातैं वह कहलाय उत ॥

---

* तदनतर यह जो आदित्य का शुक्ल प्रकाश है वही 'सा' है, उस मे नीलवर्ण तथा अधिक कृष्णवर्ण दिखायी देता है, वह 'अम' है । ये दोनों ही मिलकर 'साम' हैं । यह जो आदित्य मे सुवर्णमय पुरुष दृष्टिगोचर होता है, जिसकी दाढ़ी मूँछ तथा केश सुवर्ण वर्ण के हैं । जो नखशिखान्त सम्पूर्ण सुवर्ण वर्ण वाला है ।

भगवान को किसी वस्तु विशेष में दैवबुद्धि से मानकर उनकी स्तुति सेवा पूजा करने को आधिदैविक उपासना कहते हैं। हम सबके प्रत्यक्ष देव सूर्य नारायण है। उनमें ही भगवद् बुद्धि करके उनको नित्य अर्घ्य देना यह आधिभौतिक सूर्योपासना है, किन्तु उस सूर्य के भीतर दैवभाव से साक्षात् भगवान् की मूर्ति देखना यह आधिदैविक उपासना है। सूर्य मे उपासकों को एक दिव्य पुरुष के दर्शन होते हैं, वह परम प्रकाशमय पुरुष है। जिसके केश, तथा मूँछ और दाढ़ी सुवर्ण वर्ण के हैं, नख के अग्रभाग से लेकर शिखा के अन्त भाग तक वह पुरुष सब-का-सब सुवर्णमय प्रकाशयुक्त है। उसके दोनों नयन अरुणवर्ण का जो कप्यास के सदृश कमल है, उसके समान हैं। इस 'कप्यास' शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध मे आचार्यों मे मतभेद है। आदि शंकराचार्य ने 'कप्यास' का अर्थ किया है, कपि कहते हैं मर्कट को, उसके आस-उपवेशन–बैठने के स्थान–को कप्यास कहते हैं। कप्यास का उनके मत मे अर्थ हुआ वानर की पीठ का अन्तिम भाग–जिसमें वह बैठा करता है। पायु (गुदा) स्थान। (तस्यैवं सर्वतः सुवर्ण वर्णस्य अपि अक्ष्णोः विशेषः। कथम् ? तस्य यथा कपेः मर्कटस्य= आसः=कप्यासः, आसेः उपवेशनार्थस्य करणे घञ्, कपि पृष्ठान्तो येन उपविशति) इसमे कप्यासवत् लाल कमल और उस लाल कमल के सदृश उन सूर्यस्थ कनकवर्ण के पुरुष की आँखें बतायी गयी हैं। इस अर्थ पर स्वामी रामानुजाचार्यजी ने अपनी असह-मति प्रकट की है। इस सम्बन्ध की एक कथा कही जाती है।

भगवान् रामानुजाचार्य के विद्या गुरु थे आचार्य यादवप्रकाश-जी। वे अद्वैतवादी थे और वेदशास्त्रों के प्रकाण्ड पंडित थे। सैकड़ों शिष्य उनके समीप शिक्षा प्राप्त करते थे। बालक रामानुज भी उनके पास पढ़ने गये। ये अलौकिक बुद्धि सम्पन्न तथा

परम प्रज्ञावान थे। इनकी स्मरण शक्ति, प्रत्युत्पन्न मति और अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि के कारण श्रीयादवप्रकाशजी महाराज परम सन्तुष्ट हुए। कुछ ही काल मे बालक रामानुज अपने विद्यागुरु के स्नेह भाजन बन गये। श्रीयादवप्रकाशजी अद्वैत वेदान्त के अद्वितीय विद्वान् परम प्रज्ञावान् विख्यात पंडित थे। उनका अद्वैत सिद्धान्त आज तक "यादवीय सिद्धान्त" नाम से प्रसिद्ध है। वे रामानुज जैसे अलौकिक बुद्धि सम्पन्न शिष्य को पाकर परम प्रमुदित हुए। उन्हे आशा थी यह पढ़कर मेरे नाम को प्रख्यात करेगा, किन्तु हुआ इसके विपरीत ही।

एक दिन बालक रामानुज अपने विद्यागुरु श्रीयादवप्रकाशजी के अंगों में तैल लगा रहे थे। जिन अध्यापकों को पढ़ाने का अत्यन्त व्यसन होता है, वे चलते, बैठते, स्नान करते यहाँ तक कि भोजन करते, समय भी छात्रो को पढ़ाते रहते हैं। ऐसे अध्यापकों से अध्ययन करने का हमें स्वयं सौभाग्य प्राप्त हुआ है। श्रीयादव-प्रकाशजी रामानुजजी से तैल मर्दन भी कराते जाते थे और साथ ही एक दूसरे विद्यार्थी को छान्दोग्य उपनिषद् प्रथम अध्याय के छठवें खण्ड को पढ़ाते भी जाते थे। जब सप्तम मन्त्र आया और उस मन्त्र का यह भाग आया—तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेव मक्षिणी—तो अद्वैतवादी होने के कारण स्वाभाविक ही था, जैसा कि भगवान् शंकराचार्य ने 'कप्यासं—का मर्कट के बैठने का स्थान (गुदा) अर्थ किया है, वही अर्थ बताया। इस बात को परम साकारोपासना के समर्थक श्रीरामानुजाचार्य सहन न कर सके। सकल कल्याणमय निखिल सौंदर्य राशि सच्चिदानन्दघन मूर्ति परात्पर प्रभु के नेत्रों की तुलना वानर के वायु देश से सुनकर वे विचलित हो उठे। उन्होंने इसका विरोध करते हुए कहा—

"आचार्यदेव! आपको ऐसा अश्लील अर्थ नहीं करना चाहिये फिर प्रभु के नेत्रों की तुलना में, यह तो अर्थ नहीं अनर्थ है।"

यह सुनकर श्रीयादवप्रकाशजी चौंके। क्या मेरे किये हुए अर्थ में भी कोई त्रुटि निकालने वाला है और वह भी मेरा ही पढ़ाया हुआ छोटा-सा छात्र? उन्होंने छात्र रामानुज की ओर देखा उनके मुख मंडल पर रोष था. नेत्र सजल थे। अध्यापक ने कहा—"भाई, भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य ने 'कप्यासं' का यही अर्थ किया है।"

श्रीरामानुजाचार्य ने कहा—"किसी ने भी किया हो, यह अर्थ अनुपयुक्त है, असंगत है, अयोग्य है।"

श्रीयादवाचार्य ने कहा—"अच्छा, तुम ही इसका अर्थ करो।"

तब श्रीरामानुजाचार्य जो प्रत्युत्पन्नमति थे, तुरन्त कहने लगे—"कप्यासं का अर्थ है (कं=जलं पिबति इति=कपिः= सूर्यः। तेन आस्यते=क्षिप्यते=विकास्यते=इति कप्यासम्) क अर्थात् जल को जो पीने वाला है (भास्करो वारि तस्करः) वह हुआ सूर्य। उस सूर्य की किरणों से भली-भाँति खिला हुआ जो पुण्डरीक (लालकमल) है उस कमल की भाँति हैं आखें जिनकी।"

इस उत्तर को सुनकर आचार्य यादवप्रकाश कुछ रुष्ट हुए। गुरु शिष्य में यहीं से मनोमालिन्य आरम्भ हो गया और वह बढ़ता ही गया। 'कप्यास' शब्द की उपमा भगवान् के नेत्रों को नहीं दी गयी। पुण्डरीक (लाल कमल) को कप्यास की उपमा दी गयी है। भगवान् के नेत्रों की समता तो पुण्डरीक (लाल कमल) से ही की गयी है। स्वयं भगवान् शंकराचार्य ने भी इसका निराकरण करते हुए कहा है, वे स्वयं प्रतिपक्ष की शंका का

निवारण करते हुए प्रश्न उठाते हैं, ऐसी हीनोपमा भगवान् के नेत्रों को क्यों दी गयी ? इसका निराकरण करते हुए वे कहते हैं - "यहाँ आँखों को कप्यास से उपमित नहीं किया गया है अपि तो पुण्डरीक जो लाल कमल है उसको कप्यास के साथ उपमित किया गया है। नेत्रों को तो पुण्डरीक की ही उपमा दी गयी है। यहाँ हीन उपमा का तो प्रश्न हो नहीं उठता। यह तो उपमितोपमान है। अर्थात् जिस पुण्डरीक की नेत्रों से उपमा दी गयी है, कप्यास की उपमा तो कमल को है न कि नेत्रों को (कप्यास इव पुण्डरीकमत्यन्त तेजस्वि, एवमस्य देवस्याक्षिणी उपमितोपमानत्वान्न हीनोपमा) इससे कोई विशेष हानि तो नहीं थी। वास्तव में देखा जाय कपि का जो पीठ का अन्तिम भाग है, उसकी जैसी लाली होती है, उसकी लाल कमल के भीतर के भाग के अतिरिक्त दूसरी कोई उपमा ही नहीं। इसे हीनोपमा नहीं कहनी चाहिये। जैसे गोपियों ने कहा है जारो मुक्त्वारतां स्त्रियम्। या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनि पायिनी, जैसे भगवान् की, भक्ति कैसी हो जैसे जार पुरुष की प्रीति कामिनी में होती है। 'यथा विटामिवसाधुवार्ता' यहाँ कहने का तात्पर्य इतना ही है जार पुरुष की जैसी अभीष्ट कामिनी में आसक्ति होती है उसकी दूसरी संसार में उपमा नहीं। इसी प्रकार कपि के पृष्ठ के अन्तिम भाग की जैसी लाली है वह लाली, लाल कमल के अतिरिक्त दूसरी वस्तु से हो ही नहीं सकती। फिर भी ऐसी उपमा या चाहे प्रत्यक्ष न सही परम्परया ही सही भगवान् के अंगों के साथ सम्बन्ध जोड़ना विशेष उपयुक्त नहीं। विद्वानों ने कप्यास के 'अत्यन्त खिले कमल, के अतिरिक्त भी कई अर्थ किये हैं। जैसे (कं=जलं पिपति इति कपिः=कमलनालम्=तस्मिन आस्ते इति कप्यासम्) अर्थात् पानी को पीकर बढ़ने वाली कमल की नाल है, उस नाल के

सहित जो लाल कमल हैं उसके सदृश जिनकी आँखें है। वैसे पुण्डरीक तो सफेद कमल को कहते हैं, इसीलिये कप्यास विशेषण लगाकर उसे लाल कमल बताया गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब सूर्य में एक दूसरी प्रकार से उद्गीथ की आधिदैविक उपासना बताते हैं। ये जो हमें प्रत्यक्ष सूर्यनारायण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उनकी जो श्वेतवर्ण की आभा दिखायी देती है, वह श्वेत आभा ही मानो ऋक् है और इस श्वेत आभा के भी भीतर अप्रकट रूप में नील वर्ण की गहरी श्यामता है, वह श्यामता ही मानो सामवेद है। इस श्वेत आभा रूप ऋक में श्याम आभारूप साम संप्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक् में प्रतिष्ठित साम का ही गान किया जाता है। अब दूसरे प्रकार से भी एकता श्रवण करें। सूर्य की जो श्वेत प्रभा बतायी गयी है, वही मानो 'सा' शब्द है जो नील तथा अत्यन्त गहरी श्याम प्रभा है, वही मानो 'अम' शब्द है। दोनों मिलकर ही साम बन जाते हैं। अब सूर्य के गोल प्रतिबिम्ब को ध्यान से अवलोकन करो, तो उसमें उसका अन्तर्यामी पुरुष दृष्टिगोचर होता है वह सुवर्ण के सदृश परम प्रकाशयुक्त स्वरूप वाला है। यद्यपि देवताओं के दाढ़ी, मूछें नहीं होतीं, किन्तु यह दिव्य पुरुष देवताओं से भी विलक्षण है। इसकी दाढ़ी, मूछें सुवर्ण वर्ण की-सी हैं तथा इसके केश भी सुवर्ण जैसे वर्ण वाले परम प्रकाशयुक्त हैं। अधिक क्या कहें उसका नख से लेकर शिखा पर्यन्त समस्त शरीर सुवर्ण सदृश वर्ण वाला दिव्य प्रकाशमय है। वह सूर्य के मध्य में स्थित पुरुष परमेश्वर परमात्मा परमपुरुष ही हैं। उसकी दोनों लाल-लाल आँखें नव विकसित नाल सहित लाल कमल के सदृश बड़ी-बड़ी रतनारी हैं। उसका 'उत्' यह नाम है अर्थात् वह ऊपर की ओर उठा हुआ है। इसका अभिप्राय यही हुआ कि जो इस सूर्य-

मडल स्थित सुवर्ण वर्ण वाले परमपुरुप की उपासना करता है, उसका यह अधः पतन नहीं होने देता, उसे ऊपर ही उठाता ले जाता है। वह साधक समस्त पापों से ऊपर उठ जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"फिर इस सूर्यमण्डल स्थित पुरुप की 'उद्गीथ' उपासना कैसे करनी चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! पीछे वार-वार तो वताया जा चुका है। जो ऋग्वेद है वही सामवेद है, ऋग्वेद, सामवेद में सप्रतिष्ठित है, अतः गान सामवेद का ही होता है। वैसे ऋग्वेद तथा सामवेद ये दोनों उसके पत्त हैं ये और सभी वेद उन परमपुरुप परमात्मा के ही गुणों का गान करते हैं, इसलिये यह गान ही 'उद्गीथ' है। वेद मन्त्रो द्वारा उनकी स्तुति करना, गुणगान करना, अर्चा पूजा आदि करना यही उद्गीथ उपासना है। जो उद्गाता साम का गान करता है, वही उसी परब्रह्म का ही गान करता है। वह परमात्मा सभी का स्वामी है, सभी का अधिष्ठाता तथा शासक है। स्वर्ग से भी ऊपर के जितने लोक हैं, उन समस्त लोकों का तथा देवताओं के भी जितने दिव्य भोग हैं, उन सब भोगों का भी शासन एकमात्र यह परब्रह्म परमात्मा ही करता है। इस प्रकार सूर्यमण्डलवर्ती उस परमपुरुप की दैवभाव से उपासना करना यही आधिदैविक उपासना है। यह मैंने आदित्य मडलवर्ती पुरुप की आधिदैविक उपासना कही। अब इस शरीर मे ही उद्गीथ की आध्यात्मिक उपासना कैसे करनी चाहिये उस उपासना को मैं आप से आगे कहूँगा। आशा है, आप इस परम रहस्यमय गूढ़ प्रसंग को सावधानी के सहित श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

जो जाने जा रहस उठै पापनि तैं ऊपर।
परम पुरुष के पद्य साम ऋक् गावैं गुनवर॥
उद्गाता तिहि कहें गुननि उनिके जो गावै।
सब तैं ऊपर रहै ब्रह्म ही 'उत्' कहलावै॥
स्वर्ग लोक हू तैं उपरि, लोक-भोग शासन करत।
अधिदैवत उद्गीथ यह, करै उपासन नहिँ मरत॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् में प्रथम अध्याय का
सप्तम खण्ड समाप्त

शरीर दृष्टि से अध्यात्म-उद्गीथोपासना

[१००]

अथाध्यात्मं वागेवर्क् प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते। वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥*

(छा० उ० प्र० म० ७ ख०, १ म०)

छप्पय

देह दृष्टि तैं अब अध्यात्म उपासन विधिवत।
सुनो, वाक्-ऋक् प्रान-साम ऋक् माहिँ अधिष्ठित॥
साम गान ही करत, वाक् 'सा' प्रान 'अम' हि है।
साम उभय मिलि होहिँ श्रोत्र-ऋक् मन-सामहि है॥
साम अधिष्ठित ऋक् हि में, गान साम ही को करें।
कह्यो 'श्रोत्र' 'सा' मनहि 'अम' साम बनै गावें तरें॥

मिश्री की जो ठेली होती है उसे कहीं से भी तोड़ो, जहाँ से भी तोड़ोगे सब मीठी-ही-मीठी मिलेगी। पृथ्वी के नीचे के सात

---

* अब इसके अनन्तर अध्यात्म उपासना कही जाती है। वाणी ही ऋक् का स्वरूप है। प्राण ही साम है। इसलिये वाक् रूप ऋक् में प्राण रूप साम अधिष्ठित है। अतः अब भी ऋगारूढ साम का ही गायन होता है। इनमे वाणी ही 'सा' है और प्राण ही 'अम' हैं। ये उभय सम्मिलित होकर ही साम हैं।

लोक और पृथ्वी के ऊपर के सात लोक इन चौदह लोकों का एक ब्रह्माण्ड है। वैदिक भाषा में ये चौदह भुवन चार भागों में विभक्त किये गये हैं। (१) अम्भलोक, (२) मरलोक, (३) मरीच लोक, और (४) आपलोक। नीचे के जो (१) अतल, (२) वितल (३) सुतल, (४) तलातल, (५) रसातल, (६) महातल और (७) पाताल ये सात लोक हैं। ये आप लोक कहलाते हैं, क्योंकि इसके नीचे जल ही अधिक है। आप की अधिकता से इनकी आप संज्ञा है। इसके ऊपर पृथ्वी है इसे मृत्युलोक–मर्त्य लोक अथवा मर लोक कहते हैं, क्योंकि यहाँ के लोग मरते हैं। पृथ्वी से ऊपर भुवर्लोक है। जिसे अन्तरिक्ष भी कहते हैं। सूर्य, चन्द्र, तथा तारादि किरणें इसी मे फैलती हैं अतः किरणों से सम्बन्धित होने के कारण ये मरीचि–किरण–लोक–कहलाते हैं। भुवर्लोक से ऊपर जो स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्य लोक ये पाँच लोक हैं, ये अम्भलोक कहलाते हैं। अम्भ शब्द का अर्थ यहाँ मेघों से है। मेघों को ये ही लोक धारण करते हैं। ये सभी लोक भगवान् के स्वरूप हैं। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् परब्रह्म परमात्मा का ही रूप है। परमात्मा ही जगत् बन गये हैं। उस प्रकार नहीं बने हैं जैसे बीज वृक्ष बन जाता है। पृथ्वी में गड़ा हुआ बीज जब अंकुरित हो जाता है, तो फिर बीज नष्ट हो जाता है, किन्तु भगवान् जगत् रूप में भी परिणित हो जाते हैं और उनका जगत् से पृथक् भी अपना रूप अवस्थित रहता है। जगत् की रचना वे लीला के लिये, क्रीड़ा के लिये, मनविनोद के लिये तथा जीवों के भोगों को भुगवाने के लिये करते हैं। जीव का एकमात्र लक्ष्य परमात्म प्राप्ति है। वह परमात्म प्राप्ति उपासना द्वारा ही हो सकती है। उपासना चाहें आप अम्भलोक की वस्तुओं को ब्रह्म मानकर करें अथवा मरीचलोक की वस्तुओं

मे करें, चाहे मरलोक की वस्तुओं में करें। मिश्री की ठेली की भाँति सभी मे आपको एक-सी मधुरता मिलेगी। सभी के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होगी। अब तक अम्भलोक तथा मरीचलोक की वस्तुओ की उपासना बतायी। अब मरलोक मर्त्यलोक की वस्तुओं से इस अपने ही शरीर को दृष्टि मे रखकर उद्‌गीथ (साम के द्वारा) अध्यात्म उपासना का वर्णन किया जाता है। ये समस्त उपासनायें उद्‌गाता द्वारा साम के गायन से–उद्‌गीथ से–ही होती हैं। इसीलिय इसका नाम उद्‌गीथ उपासना है। वह साम भी ऋगारूढ़ साम हो। अर्थात् ऋग्वेद जिस साम मे अधिष्ठित हो। इस प्रकार साम और ऋक् की एकता तथा उपास्य प्रतीक दो वस्तुओं की एकता ही इस उपासना का प्रकार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब देह दृष्टि से साम की–उद्‌गीथ की–उपासना बताते हैं। इन्द्रियाँ दश हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय इनमें कर्मेन्द्रिय में वाणी की और ज्ञानेन्द्रिय में चक्षु तथा कर्ण को प्रधानता है। सब इन्द्रियों के साथ प्राण तथा अन्तःकरण का तादात्म्य सम्बन्ध है। इस शरीर में उद्‌गीथ की उपासना किस भाव से करे, इसे बताते हैं। उद्‌गाता ऋगारूढ़ साम के गायन द्वारा ही अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर सकता है। अतः वाक् इन्द्रिय वाणी को तो ऋक माने और प्राण को साम। प्राणरूप साम वाणी रूप ऋक् में अधिष्ठित हैं। इसीलिये उद्‌गाता लोग ऋगारूढ़ साम का ही गान किया करते हैं। इसमें वाणी ही 'सा' है और प्राण ही 'अम' हैं। दोनों मिलकर ही साम बनते हैं अतः वाणी में अधिष्ठित प्राण की ही परब्रह्म रूप मे उपासना करनी चाहिये।

अब दूसरा प्रकार बताते हैं। यह नेत्र है वही ऋक् है, इसके भीतर जो आत्मा रूप में काली पुतली है, वही साम है। इस

प्रकार चक्षु रूप ऋग्वेद में यह आत्मा रूप अधिष्ठित है। इसीलिये अब तक ऋगारूढ़ साम का ही गायन किया जाता है। इनमें चक्षु ही 'सा' स्वरूप है और आँख की काली पुतली आत्मा ही 'अम' है। दोनों मिलकर ही साम होते हैं अतः उद्‌गीथ-साम गायन-द्वारा आँखों में आत्म रूप से प्रतिष्ठित परमात्मा का गुण गान करना चाहिये।

अब शारीरिक दृष्टि से उद्‌गीतोपासना की आध्यात्मिक उपासना का तीसरा प्रकार बताते हैं। ये जो श्रोत्र (कर्ण) हैं वही ऋक् है, और इन्द्रियों को संचालन करने वाला मन ही साम है। इस भाँति श्रोत्र स्वरूप ऋग्वेद में मन रूप साम अधिष्ठित है, इसीलिये ऋगारूढ़ साम वेद का ही उद्‌गाता द्वारा गायन किया जाता है। इनमें जो श्रोत्र है वही मानो 'सा' शब्द है और 'ओ' 'अम' शब्द है वही मानों मन है। इस प्रकार श्रोत्र और मन दोनों मिलकर ही साम हैं। इसलिये श्रोत्र में मन को परमात्मा मानकर उसका उद्‌गाता द्वारा गुणगान करना चाहिये।

अब शारीरिक दृष्टि से ही एक चौथा प्रकार बताते हैं। नेत्रों में हमें दो प्रकार के रंग दिखायी देते हैं, आँखों की जो भूमि है, वह तो श्वेत वर्ण की है, उसमें नील वर्ण की अत्यन्त श्यामता लिये बीच में काली पुतली है। तो उस शुक्ल प्रकाश में तो ऋग्वेद की भावना करे। और जो नील वर्ण की अत्यन्त श्यामता लिये हुए पुतली है, उसमें सामवेद की भावना करे। इस प्रकार शुक्ल रंग का प्रकाश जो ऋग्वेद स्वरूप है और नील वर्ण की अत्यन्त श्यामता लिये हुए सामरूप पुतली है वह उसमें प्रतिष्ठित है, इसीलिये ऋगारूढ़ साम का ही उद्‌गाता द्वारा गान किया जाता है। इनमें नेत्र का शुक्ल प्रकाश ही 'सा' शब्द

स्वरूप है और नील वर्ण की जो गहरी श्यामता है वह 'अम' शब्द रूप है। ये दोनों ही मिलकर साम होते हैं। अतः आँखों में जो गहरी श्यामता है कृष्ण रंग है उसे ही श्यामसुन्दर का साकार स्वरूप मानकर उद्गीथ द्वारा उसकी स्तुति करनी चाहिये।

अब एक पाँचवाँ प्रकार शरीर की दृष्टि से अध्यात्म उद्गीथ उपासना का बताते हैं। छांदोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के छठें खण्ड में पहिले ही बता चुके हैं कि सूर्य मंडल में एक सुवर्ण वर्ण का परम प्रकाशमय दाढ़ी, मूँछ तथा केशों वाला दिव्य पुरुष दिखायी देता है। उसी की परमात्म भावना से सूर्य मंडल में उपासना करनी चाहिये। अब यहाँ कहते हैं नेत्रो के अधिष्ठातृ देव सूर्य हैं, तो सूर्य मंडल में जो वह सुवर्ण वर्ण का दिव्य पुरुष दिखायी देता है, वही योगियो को नेत्रो मे भी दृष्टिगोचर होता है। वही नेत्रों के मध्य मे दिखायी देने वाला पुरुष ऋग्वेद स्वरूप है। और वही सामवेद स्वरूप भी है। वही उक्थ-अर्थात् साम वेद के स्तोत्र समूह हैं। वही यजुर्वेद है। और वही ब्रह्म है। वेद स्वरूप परब्रह्म है। इसका स्वरूप ठीक उसी भाँति है, जैसा स्वरूप सूर्य मंडल के मध्यवर्ती पुरुष का बताया है। जैसे वहाँ आदित्य मंडल मध्यवर्ती पुरुष के सम्बन्ध में बताया था कि ऋग्वेद और सामवेद उस दिव्य पुरुष के गुणगान करते हैं। इसी प्रकार इस नेत्र मध्यवर्ती पुरुष के भी ऋग्वेद तथा साम वेद का गुणगान करते हैं। वहाँ बताया था, कि आदित्य मंडल में स्थित उस दिव्य पुरुष का नाम 'उत्' है, क्योंकि वह समस्त पापों से ऊँचा उठा हुआ है और वह अपने उपासकों को भी ऊपर उठा देता है। तो जैसे वहाँ उसका नाम 'उत्' बताया उसी प्रकार नेत्रों के मध्य मे जो दिव्य पुरुष है, उसका भी नाम 'उत्'

ही है। कहने का सारांश इतना ही है कि सूर्य मंडलवर्ती पुरुष और नेत्रों के मध्य मे दिखायी देने वाला पुरुष रंग, रूप, आकार, प्रकार, नाम तथा गान सभी दृष्टि से एक ही है। नेत्र के मध्य में भी परमात्म भावना से उसकी साम गान द्वारा उपासना करनी चाहिये।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार सूर्य में जो आधिदैविक उपासना बतायी, उसी पुरुष की चक्षु मे उपासना कही गयी। दोनो एक ही हैं और दोनों की उपासना का फल भी एक ही है। इस चक्षु वाले पुरुष की उपासना का फल बताते हैं, कि पृथ्वी के नीचे के जो अतल वितलादि सात लोक हैं, उनका शासन यह परम पुरुष ही करता है। मनुष्य लोक में जितने भी भोग हैं, उन भोगों का प्रदाता स्वामी अध्यक्ष भी यही पुरुष है। इसीलिये जो लोग वीणा बजाकर वीणा के स्वरो के साथ इस परम पुरुष के गुणों का गान करते हैं, इसी पर मुग्ध होकर लोग उन्हे द्रव्य प्रदान करते हैं। वीणा पर गायन के द्वारा उसी के गुण गाये जाते हैं और गाने वाले को तत्काल-उस गायन का-फल भी प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह शरीर दृष्टि से उद्गीथ की अध्यात्म उपासना कही। अब इन उपासनाओं का जो फल होता है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

नेत्र मध्य इक पुरुष योग तैं दीखत मनहर।
वह ही है ऋक् साम उक्थ अरु यजुर्वेदवर॥
है वह वेद स्वरूप ब्रह्म परमात्म कहावै।
सूर्य माहिँ जो दिखै नेत्र में वही दिखावै॥
नाम, रूप, रङ्ग एक सम, दोउनि कूँ एकहि कहहिँ।
अधोलोक पति भोग पति, गाईं बीन ते धन लहहिँ॥

उद्गीथ उपासना का फल

[१०१]

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामागानस्येष्टे य एवं विद्वान्साम गायति सामगायति ॥९॥*

(छा० उ० प्र० म० ७ ख ० ९ म०)

छप्पय

चाक्षुस अरु आदित्य पुरुष गुन गान करत जो।
दोउनि एकहि मानि सामतैं गावै तिहिँ सो॥
स्वर्ग लोक तैं उपरि दिव्य भोगनि सो पावै।
अतल, वितल, पाताल आदि लोकनि उपजावै॥
भूमण्डल के भोग सब, मिलै कामना पूर्ण सब।
चाहे जैसी वस्तु जब, तैसी सो मिलि जाय तब॥

वेद के मन्त्र कल्पवृक्ष के सदृश होते हैं। उनकी जो जिस भावना से-सकाम अथवा निष्काम भावना से-गान करता है, वह अपनी भावना के ही अनुसार फल प्राप्त करता है। किन्तु वेद का पाठ करने वाले में तीन बातें अवश्य होनी चाहिये।

---

* साम गायन करने वाला उद्गाता यजमान से पूछे—"तेरे लिये किस कामना को लक्ष्य करके मैं सामवेद का सविधि गान करूँ।" क्योंकि निश्चय ही सकाम गायन की यही सामर्थ्य है। जो उद्गाता इस रहस्य को भली भाँति जानकर साम का गान करता है, वास्तव में वही साम गायन करता है, वही सामवेद को गाता है।

(१) एक तो उसे वेद मन्त्रों का साङ्गोपाङ्ग पूर्णरीत्या स्वर, घन, वल्ली आदि सहित पूर्ण ज्ञान हो, (२) दूसरे वेद पाठ करने वाला सदाचारी तथा जितेन्द्रिय हो और (३) तीसरे वह घोर तपस्या के द्वारा कल्मष रहित–निष्पाप–हो गया हो। ऐसा वेदज्ञ ब्राह्मण जिस कामना से वेद मन्त्रों का उच्चारण करेगा, वह कामना अवश्य ही फलवती होगी। पहिले बहुत से वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हुआ करते थे और यजमान उनके द्वारा अपनी मनोकामनायें पूर्ण कराया करते थे।

इस सम्बन्ध की एक बड़ी ही सुन्दर पौराणिक कथा है। ब्रह्माजी के पौत्र कश्यपजी के विवस्वान् सूर्य हुए। विवश्वान् के पुत्र वैवश्वत मनु हुए। पहिले मनु निःसन्तान थे। पूर्वकाल में लोग सब कार्यों की सिद्धि के लिये दैवबल–उपासना से ही काम लेते थे।

वैवस्वत मनु ने अपने पुरोहित भगवान् वसिष्ठजी से कहा—"भगवन्! मेरे कोई पुत्र नहीं है, और वेद का वचन है–अपुत्र की गति नहीं होती। अतः आप मुझसे कोई ऐसा यज्ञ कराइये, जिससे मेरे पुत्र उत्पन्न हो जाय।"

वसिष्ठजी ने कहा—"बहुत अच्छी बात है, राजन्! मैं आप से मित्रावरुण इष्टि कराऊँगा। उस यज्ञ के प्रभाव से आपके अवश्य ही पुत्र होगा।"

राजा की अनुमति प्राप्त करके भगवान् वसिष्ठ ने यज्ञ [illegible] कराया। यज्ञ में जो ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, और [illegible] ये प्रधान चार ऋत्विज् होते हैं। उनमें होता ऋक्वेद का [illegible] है, अध्वर्यु यजुर्वेद का और उद्गाता सामवेद का [illegible] वेदों का ज्ञाता होता है, वह सभी ऋत्विज् [illegible] की देख-रेख करता है।

विधि विधान पूर्वक यज्ञमंडप, हवनकुण्ड की रचना हुई। यज्ञशाला के समीप ही यजमान के रहने का स्थान तथा यजमान का धर्मपत्नी के लिये पत्नीशाला बनी। यजमान और यजमान पत्नी वहाँ बड़े संयम-नियम से निवास करने लगे। वैवस्वत मनु की पत्नी श्रद्धा केवल एक बार दूध पीकर ही रहकर अपने पति के साथ यज्ञीय कार्यों को सम्पन्न कराती थी। यज्ञ पुत्र की प्राप्ति की कामना से हो रहा था। किन्तु मनु पत्नी महारानी श्रद्धा का इच्छा थी, मेरे पुत्र न होकर पुत्री हो। माताओं को पुत्र की अपेक्षा पुत्री से अधिक प्रेम होता है। पुत्र तो जहाँ दो चार वर्ष का हुआ पुरुषों में रहने लगता है, माता उससे खुलकर अपने दुःख सुख की बातें नहीं कह सकती। पुत्री तो जब तक विवाह न हो सदा माता के ही समीप बनी रहती है। सम लिङ्गी होने के कारण माता पुत्री से गुप्त से-गुप्त सुख दुःख की बातें कह सकती है। अतः रानी ने पति की इच्छा के विरुद्ध एक दिन चुपके से एकान्त में होता ऋत्विज् के समीप जाकर कहा— "ब्रह्मन्! मेरी इच्छा पुत्री प्राप्त करने की है, अतः आप ऐसा मंत्र पढ़े जिससे मेरे पुत्र न होकर पुत्री ही हो।" यह कह रानी ने पूजा प्रतिष्ठा विशेष दक्षिणा द्वारा होता को सन्तुष्ट कर लिया। तब अध्वर्यु की प्रेरणा से होता बने ब्राह्मण ने श्रद्धा देवी की इच्छानुसार पुत्री ही की कामना से वषट्कार का उच्चारण करके यज्ञकुंड में आहुति दी। मंत्रों की शक्ति तो अमोघ होती है। महारानी की इच्छानुसार उनके गर्भ से इला नाम की पुत्री ही हुई।

यह देखकर महाराज मनु को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा—मेरे इस वैदिक कर्म मे विधि की तो कोई त्रुटि हुई नहीं, यज्ञीय सामग्री भी सभी शुद्ध थी, मेरी भावना भी शुद्ध थी।

यज्ञ में जो ब्राह्मण वरण किये गये थे, वे भी सब विधि विधान को जानने वाले थे। अपने-अपने विषय के पूरे पंडित थे। उन्होंने यज्ञीय कृत्य भी सभी परम पवित्रता से विधि विधान पूर्वक कराये थे। फिर यह संकल्प वैषम्य–विपरीत फल–कैसे हुआ ?" अपनी शंका के निवारणार्थ वे अपने गुरु वसिष्ठ जी के पास गये और जाकर उन्होंने निवेदन किया—"भगवन ! यज्ञों में संकल्प का विपरीत फल या तो यजमान की अश्रद्धा के कारण होता है, अथवा विधि विधान में त्रुटि रहने से विपरीत फल हो जाता है। तीसरा कारण यह भी हो जाता है, कि यज्ञ के ऋत्विजगण पूर्ण ज्ञानी न हों। वेद मन्त्रों को भली भाँति न जानने वाले, असदाचारी तथा अतपस्वी हों। मेरे यज्ञ में इन तीन बातों में से एक भी बात नहीं थी। मैंने बड़ी श्रद्धा भक्ति से शुद्ध संकल्प से समस्त यज्ञीय कार्य कराये। जैसी आपने विधि बतायी थी, उसका यथाशक्ति पालन किया गया। आप ऋत्विजों का मंत्र ज्ञान परिपूर्ण है। आप ब्रह्मवेत्ता, जितेन्द्रिय, परम तपस्वी तथा निष्पाप हैं, मेरे संकल्प का विपरीत फल कैसे हुआ ?"

यह सुनकर भगवान् वसिष्ठजी को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। ऐसा कैसे हो गया ? ऐसा तो नहीं होना चाहिये था। उन्होंने ध्यान से देखा, तो वे समझ गये—ओ हो ! यह विपरीत फल होता के व्यतिक्रम से–उसके विपरीत संकल्प से–हुआ। उन्होंने महाराज मनु से कहा—"राजन् ! आपकी धर्म पत्नी के कहने से उसकी पुत्री की इच्छा होने के कारण–होता ने यह सब गड़बड़-सड़बड़ कर दी। विपरीत मन्त्र पढ़ दिया इसी से पुत्र न होकर पुत्री से पैदा हुई।।"

महाराज मनु ने कहा—"भगवन् ! अब कोई ऐसा उपाय

नहीं–आपके मन्त्रों में ऐसी शक्ति नहीं–कि इस पुत्री का ही पुत्र हो जाय ?"

वसिष्ठ जी ने कहा—"मंत्रों की शक्ति अमोघ है। मंत्रों में सभी प्रकार की सामर्थ्य है। मैं अपने मंत्रों के प्रभाव से इस पुत्री का ही पुत्र बना दूँगा।" यह कहकर वसिष्ठजी ने वेद मंत्रों के प्रभाव से महाराज मनु का इच्छानुसार इला पुत्री को ही इल बना दिया। जो राजा सुद्युम्न नाम से प्रतिष्ठानपुरी के विख्यात राजा हुए। ऐसा पहिले वेद के मंत्रों में प्रभाव होता था। अब काल क्रम से वेदों का स्वाध्याय बंद हो जाने से, सदाचार, इन्द्रिय संयम, तपस्या के अभाव से वेद मंत्रों में उतना प्रभाव नहीं रहा। अब उनके द्वारा सर्व कामनाओं की पूर्ति प्रायः नहीं होती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! चक्षु में रहने वाला पुरुष तथा सूर्य मंडल में विराजमान पुरुष एक ही है। सूर्य में विराजने वाला पुरुष स्वर्गलोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों का तथा उन लोकों में प्राप्त भोगों का स्वामी है और चक्षु में अवस्थित पुरुष पृथ्वी के नीचे के सात लोकों का तथा पृथ्वी अन्तरिक्ष का और इन लोकों में प्राप्त होने वाले भोगों का स्वामी है। इन दोनों का ही जो गुणगान करते हैं। वे अपनी अपनी मनोवाछित वस्तुओं को प्राप्त कर लेते हैं। देखिये, सभाओं में जो भगवद् गुणानुवाद का वाद्यों पर गान करते हैं, उन्हें तत्काल उसका फल मिल जाता है, उन्हें धन की प्राप्ति होता है। फिर जो सस्वर वेदगान द्वारा उस परमात्मा के गुणों का गान करेंगे उन्हें अपनी अभीष्ट वस्तु क्यों नहीं प्राप्त होगा। चाक्षुप पुरुष नीचे के लोकों का तथा मानवीय भोगों का स्वामी है और सूर्य मंडल का पुरुष स्वर्गादि पाँच ऊपर के लोकों का तथा देवताओं के भोगों का अधीश्वर है। इस कथन से दोनों पृथक् पृथक् नहीं मानना चाहिये। दोनों

एक ही हैं, स्थान भेद से दोनों का पृथक् वर्णन है। जैसे कौए की आँखें तो दो होती हैं। किन्तु उनमें देखने वाली काली पुतली एक ही है, वह जब चाहे उसे बाँई आँख में कर लेता है। इसी प्रकार उपास्य परमपुरुष एक ही है। जो इस प्रकार चाक्षुप और आदित्य दोनों पुरुषों की एकता का ज्ञान करके साम गान द्वारा उस परमात्मा की स्तुति करता है। दोनों का ही एकत्व भावना से गुणगान करता है। वह उसी गान द्वारा जो आदित्य-लोक से ऊपर के लोक हैं उन्हें प्राप्त कर लेता है तथा देवताओं के भोगने योग्य जो उन-उन लोकों के दिव्य भोग हैं, उन्हें भी प्राप्त कर लेता है। साथ ही इसी अभेद रूप से-एकत्व भावना से-जो उद्गीथ द्वारा-सामगायन करके-उपासना करता है। उसे नीचे के भू निवर स्वर्ग तथा उनमे भोग और पृथ्वी के मनुष्य सम्बन्धी समस्त भोगों को भी वह चाहे तो प्राप्त कर सकता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जो स्वय सामगान करने मे समर्थ नहीं है, किन्तु वह पृथ्वी सम्बन्धी भोगों को तथा स्वर्गादि ऊपर के दिव्य लोकों के भोगों को प्राप्त करना चाहता है, तो कैसे प्राप्त करें?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! वह वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा अपनी कामना के अनुसार वैदिक यज्ञ याग करावें। सात्विक प्रकृति के तप:पूत ब्राह्मणों को जिन्होंने साङ्गोपाङ्ग सविधि वेदों का अध्ययन किया हो, उनका वरण करे। उनसे प्रार्थना करे—"भगवन्! पुण्यलोकों की-तथा अभीष्ट भोगों की प्राप्ति के निमित्त आप साम गान कीजिये।"

तब साम का गायन करने वाला उद्गाता अपने यजमान से पूछे—"मैं आपके निमित्त कौन-सी अभीष्ट वस्तु का अपने साम गायन द्वारा आगान करूँ-आवाहन करूँ-अर्थात् इस गायन द्वारा

तुम्हारी किस लोक को–किन लोको की भोग वस्तुओ को प्राप्त कराने का प्रार्थना करूँ। तुम्हारी किस इच्छा को परिपूर्ण करूँ।"

यजमान कह दे—"कि मेरी स्वर्गलोक या उससे भी ऊपर के लोका की जाने की, वहाँ के भोगों को प्राप्त करने की इच्छा हे अथवा पृथ्वी लोक के ही भोगो को प्राप्त करना चाहता हूँ।" इस प्रकार अपनी इच्छा उद्गाता के सम्मुख व्यक्त कर दे, तो उद्गाता उसी भावना से साम गायन करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भोगो को प्राप्त करना यह उद्-गाता का योग्यता के ही ऊपर निर्भर करता हे। जो उद्गाता चाक्षुप पुरुप तथा सूर्य मडलवर्ती पुरुप के एकत्व को भली-भाँति जानकर साम का गायन करता है, वही यजमान के वाछित भोगों को–साम गायन द्वारा आवाहन करने में समर्थ होता है। जो इस प्रकार जानकर साम गायन करता है, साम गायन करता है। वह भोगों को प्राप्त कराने में समर्थ होता है। (आदरार्थ द्विरुक्ति) यह मैंने आपसे चाक्षुप पुरुप और सूर्य मडलवर्ती पुरुप इन दोनों की अभेद दृष्टि से उपासना करने का फल बताया। अब मैं उद्गीथ उपासना की ही उत्कृष्टता बताने के निमित्त तीन ऋषियों के सम्वाद को कहूँगा। उस उपाख्यान से आप उद्गीथ उपासना की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे समझ सकेंगे।"

छप्पय–पुण्यलाक अरु दिव्य भोग हित यज्ञ करावैं।
उद्गाता तिनि कहे—गान करि का दिलवावैं ?
चाक्षुप–सूरज पुरुप रहस जानत जो गायक।
साम गान तैं होइ वही तिनि वाछा प्रापक॥
ये उद्गीथ उपासना, साम गान तें होहिँ सब।
ताकी अति उतकृष्टता, मुनिवर ! तुम तैं कहहुँ अब॥

इति छादोग्य उपनिपद् के प्रथम अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त

उद्गीथोपासना की उत्कृष्टता सम्बन्धी आख्यायिका (१)

[१०२]

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति । ते हो चुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ।।*

(छा० उ० प्र० अ० ८ ख० १ मं०)

छप्पय

शिलक, प्रवाहण, दाल्भ्य तीन उद्गीथ सुज्ञाता ।
गोष्ठी करि उद्गीथ भिड़े तिनिहु विख्याता ।।
शिलक दाल्भ्य सम्वाद प्रवाहण श्रोता क्षत्रिय ।
आश्रय सामहिं कहा ? दाल्भ्य बोले 'स्वर' आश्रय ।।
तिहि आश्रय का ? 'प्राण है, प्राण ? अन्न आश्रय कह्यो ।
अन्नाश्रय का ? जलहि है, जल आश्रय ? स्वरगहि रह्यो ।।

---

* तीन उद्गीथ विद्या मे कुशल थे । एक तो शिलक जो शालवान् के पुत्र थे, दूसरे दाल्भ्य जो चिकितायन के पुत्र थे । और तीसरे प्रवाहण जो जीवल के पुत्र थे । उन्होने परस्पर मे कहा—"हम लोग उद्गीथ विद्या मे कुशल हैं, लाओ परस्पर मे उद्गीथ के सम्बन्ध मे बातें करें ।"

एक से अधिक व्यक्ति जब परस्पर में किसी विषय पर वार्तालाप करते हैं, तो उसे वाद विवाद कहते हैं। शास्त्रार्थ भी इसी का नाम है। इसके तीन भेद हैं (१) वाद, (२) जल्प और (३) वितण्डा। 'वादे वादे जायते तत्त्व बोधः' यथार्थ बोधकी इच्छा से जो परस्पर में शास्त्र के वाक्य कहे जाते हैं, उसे वाद कहते हैं। उसमें प्रमाण, तर्क, साधन, उपालम्भ और सिद्धान्त इन पाँचों से युक्त पक्ष प्रतिपक्ष वाले विचार करते हैं। प्रमाणयुक्त तर्क संगत, साधन सम्पन्न उपालम्भ और सिद्धान्त युक्त जो बात हो उसे दोनों पक्ष वाले सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे वादों से यथार्थ तत्त्व का बोध होता है।

दूसरा जल्पवाद है। इसमे तत्त्व निर्णय लक्ष्य नहीं रहता। इसमें अपनी विजय हो, इसी बात पर ध्यान रखा जाता है। अपनी विजय के निमित्त पर पक्ष वालों को छल के द्वारा, जाति निग्रह स्थानादि किसी भी प्रकार से दूषित करके अपने पक्ष को श्रेष्ठ सिद्ध किया जाता है। जल्प का मुख्य उद्देश्य परपक्ष को पराजित करके अपने पक्ष की श्रेष्ठता सिद्ध करना ही होता है।

वितण्डा में कई लोग सम्मिलित होकर परपक्ष को येन केन प्रकार से पराजित करने का प्रयत्न करते हैं। उनमे से एक तो स्वपक्ष को स्थापित करता है। दूसरे बहुत मिलकर छल से, बल से, कला से तथा नाना कौशलों से परपक्ष को दूषित करने मे ही जुट जाते हैं। उन्हें अपने पक्ष की स्थापना से कोई प्रयोजन नहीं परपक्ष में नाना दोष निकालना ही उनका कार्य है। इस प्रकार जल्प और वितण्डा इन दोनों में तत्त्व बोध का निर्णय लक्ष्य न होकर विजय में ही शक्ति परीक्षा होती है। जो पक्ष छल, बल, कला-कौशल मे अधिक निपुण या धूर्तता पूर्ण होता है, वही अपनी विजय की घोषणा कर देता है। अतः जल्प

और वितण्डा ये दोनों विचार गोष्ठी में निकृष्ट माने गये हैं। वास्तव में वाद ही परस्पर के विचार विनिमय में—वार्तालाप में—श्रेष्ठ पक्ष है। इसीलिये भगवान् ने गीता में कहा है—'अध्यात्म विद्या विद्यानां वादः प्रवदातामहम्' अर्थात् विद्याओं में अध्यात्म विद्या मेरी विभूति है और एक विषय पर भले लोग जब चर्चा करते हैं। वाद द्वारा निर्णय करते हैं उनमें 'वाद' मेरी ही विभूति है।

विद्या का भूषण वाद ही है। एक विषय के बहुत से ज्ञाता जब परस्पर में मिलते हैं, तो वे शास्त्र चर्चा छेड़ देते हैं, जिससे इधर से किसी विषय पर अपनी बुद्धि से कुछ लोग प्रमाण देकर तर्क करके उसे सिद्ध करते हैं। दूसरे अन्य प्रमाण तर्क देकर उसे दूसरी भाँति सिद्ध करते हैं। अन्त में प्रबल प्रमाण और तर्कादि द्वारा वे लोग सर्व सम्मत एक निर्णय पर पहुँच जाते है। इसे ही सत्संग, शास्त्र चर्चा, विचार गोष्ठी अथवा तत्त्व विविधत्सा कहते हैं। ऐसे तत्त्व विचार से ज्ञान वृद्धि होती है। प्राचीनकाल में ऐसी ही शास्त्र चर्चायें हुआ करती थीं। उद्‌गीथ सम्बन्धी ऐसे ही एक सत्संग का वर्णन छांदोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के अष्टम खण्ड में किया है। आगे उसी का वर्णन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्‌गीथोपासना की उत्कृष्टता के सम्बन्ध की एक कथा है, उसी का वर्णन किया जाता है। उद्‌गीथोपासना के ज्ञाता, उस विद्या में परम निपुण तीन ऋषि एक बार एकत्रित हुए। इनमें पहिले तो थे शालवान् महर्षि के पुत्र शिलक। दूसरे परम भागवत दाल्भ्य मुनि थे, इन दाल्भ्य को तो आप लोग भली-भाँति जानते ही हैं। ये बक दाल्भ्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। आपके इस नैमिषारण्य यज्ञ में वे उद्‌गाता का कार्य कर रहे हैं। ये दल्भ्य गोत्र में उत्पन्न महर्षि चिकितायन

के पुत्र हैं। तीसरे पाचाल देश के सुप्रसिद्ध महाराजा जीवल के पुत्र प्रवाहण राजर्षि थे। ये राजर्षि प्रवाहण बड़े ज्ञानी ध्यानी ब्रह्मनिष्ठ थे। वृहदारण्यक ब्राह्मण भाग मे इनका कई स्थान में उल्लेख आया है। श्वेतकेतु ऋषि, गौतम ऋषि तथा अन्यान्य ऋषियों का पाञ्चाल नगरी मे प्रवाहण के समीप आने का वर्णन मिलता है। इससे प्रतीत होता है, ये अपने समय के धुरन्धर विद्वान्, सत्सगी तथा ब्रह्मविद्या निष्णात थे। सयोग से ये तीनों उद्गीथोपासना के विशेषज्ञ किसी एक स्थान मे एकत्रित हुए। जब किसी विषय के विशेषज्ञ एक स्थान में मिलते हैं, तो अपने विषय पर वाद-विवाद चर्चा करते हैं। सज्जन पुरुषो के सम्मिलन का यही फल है, कि परस्पर मे सत्संग हो, शास्त्रो के अर्थों की अलोचना हो जिससे तत्त्व के विषय मे निर्णय हो। जब तीनों परस्पर में मिले तो नमस्कार प्रणाम कुशल प्रश्न के अनन्तर सब ने कहा—"हम तीनों ही उद्गीथ उपासना मे कुशल माने जाते हैं। अतः सब की सम्मति हो, तो उसी के सम्बन्ध मे चर्चा हो उद्गीथ सम्बन्धी ही कथोपकथन हो। तत्सम्बन्धी ही परस्पर मिलकर कथा कहें।"

अपने प्रिय विषय की चर्चा सभी को सुहाती है, अतः सभी ने एक स्वर मे कहा—"बहुत अच्छी बात है, अवश्य ही इस विषय की कुछ चर्चा छिड़नी चाहिये।"

इस पर पाञ्चालाधिपति महाराज जीवल के पुत्र प्रवाहण ने कहा—"देखिये, मैं क्षत्रिय हूँ, श्रवण का अधिकारी हूँ। आप दोनों ब्राह्मण हैं, मेरे पूजनीय हैं इसलिये आप दोनों ब्राह्मण परस्पर मे चर्चा आरम्भ करें। मैं आप दोनों की बातों को ध्यानपूर्वक सुनूँगा। पढ़ने तथा श्रवण करने का फल समान ही है। ऐसा कहकर क्षत्रिय कुमार चुप हो गये। तब इस बात पर वे दोनों

ब्राह्मण कुमार ऋषि सहमत हो गये। तब दोनों में से प्रथम प्रश्न कौन करे यह प्रश्न उठा, इस पर महर्षि शालवान् के पुत्र शिलक मुनि ने दाल्भ्य से कहा—"यदि आपकी अनुमति हो, तो मैं ही सर्व प्रथम आपसे प्रश्न पूछकर इस चर्चा का श्रीगणेश करूँ ?"

दाल्भ्य ऋषि ने कहा—"इससे उत्तम बात और क्या होगी ? आप प्रसन्नतापूर्वक जो पूछना चाहे पूछें।"

इस पर शिलक ने पूछा—'हमारी आपकी चर्चा उद्गीथ-साम सम्बन्धी है। अतः मैं यह पूछना चाहता हूँ कि साम का आश्रय-मूल कारण-आधार-क्या है ?"

इस पर दाल्भ्य ने कहा—"देखिये, साम का गायन होता है। विना गायन के साम में सामता ही नहीं। गायन सदा सस्वर होता है। स्वर सात हैं (१) षटज, (२) ऋषभ, (३) गान्धार, (४) मध्यम, (५) पञ्चम, (६) धैवत, और (७) निषाद। समस्त गायन इन सात स्वरों के ही अन्तर्गत होते हैं। अतः साम का आश्रय स्वर है।"

इस पर शिलक ने पूछा—"यह तो उचित ही है साम का आधार स्वर है, अब मैं यह पूछना चाहता हूँ, कि स्वर का आश्रय कौन है ?"

दाल्भ्य ने कहा—"देखिये, स्वर का उच्चारण वाणी से होता है, वाणी प्राण के अधीन है, प्राणवान् ही वाणी द्वारा स्वर का आश्रय-आधार-मूल कारण प्राण ही है।"

शिलक ने पुनः प्रश्न किया—"स्वर का आश्रय तो प्राण है प्राण का आश्रय कौन है ?"

दाल्भ्य ने कहा—"प्राण अन्नगत होता है। प्राणों की स्थिति अन्न के ही ऊपर निर्भर है। अन्न के बिना प्राण रह नहीं सकते अतः प्राणों का आश्रय अन्न है।"

इस पर शिलक ने पूछा – "यह बात यथार्थ है, अन्नगत ही प्राण हैं, प्राणों का आधार अन्न है, अब यह बताइये अन्न का आश्रय कौन है ?"

इसका उत्तर देते हुए दाल्भ्य ने कहा—"अन्न पृथ्वी का रूप है, पृथ्वी जल से उत्पन्न हुई है। जल के बिना कोई भी अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः अन्न का आश्रय जल ही है।"

शिलक मुनि ने पुनः पूछा—"जल तो जीवन ही है। अब यह बतावें जल का आश्रय क्या है ?"

दाल्भ्य ऋषि ने कहा—"जल का आश्रय स्वर्ग है। मेघ स्वर्ग में ही रहते हैं। वर्षा न हो, तो जल कहाँ से आवे, अतः जल का मूल कारण–आश्रय–स्वर्ग ही है।"

इस पर शिलक ऋषि ने पूछा—"अच्छा, बताइये स्वर्ग का आश्रय कौन है ?"

यह सुनकर दाल्भ्य ऋषि ने कहा—"देखिये, अब आप अति प्रश्न कर रहे हैं। प्रश्नों का कहीं भी तो अन्त होना चाहिये। हम लोगों को मर्यादा में ही रहकर प्रश्न पूछना चाहिये। स्वर्ग से आगे हमें नहीं जाना चाहिये। स्वर्ग से परे की बात पूछना अति प्रश्न है। हमारे मत में स्वर्गलोक में ही पूर्णतया साम की प्रतिष्ठा है। अर्थात् सामगान का अन्तिम फल स्वर्ग है, इसीलिये श्रुति ने स्वर्ग की प्रतिष्ठा साम में ही बतायी है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! स्वर्ग से ऊपर तो चार लोक और भी हैं, फिर श्रुति ने स्वर्ग को ही साम वेद क्यों कहा ? (स्वर्गो वै लोकः सामवेदः)"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! यहाँ श्रुति का अभिप्राय स्वर्ग से भुवर्लोक वाले स्वर्ग से नहीं है। जिसमें इन्द्रादि देवगण निवास करते हैं। यह तो क्षयिष्णु लोक है। श्रुति ने जिस स्वर्गलोग में

साम की प्रतिष्ठा बतायी है, उस स्वर्ग से अभिप्राय श्रुति का मोक्ष से है। अनेक स्थानों में स्वर्ग कहकर मोक्ष का ही सकेत किया गया है। पीछे केन उपनिषद् में इसके द्वारा समस्त पापों को नष्ट करके सबसे श्रेष्ठ अनन्त स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है (अपहत्य पाप्मान अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतिष्ठिति)"

शौनकजी ने कहा–"यहाँ तो स्वर्ग के साथ अनन्त और ज्येये विशेषण हैं। इससे तो सिद्ध हुआ एक अन्तवन्त साधारण स्वर्ग है दूसरा अनत सर्वश्रेष्ठ-स्वर्ग है जिसे मोक्ष कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, भगवन्! बिना विशेषण के भी केवल स्वर्गलोक मोक्ष के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, जैसे पीछे प्रश्नोपनिषद् मे यमराज से नचिकेता ने कहा था—"हे धर्मराज! *देखिये, स्वर्गलोक में तनिक भी भय नहीं रहता। वहाँ जरावस्था* भी नहीं होती। वहाँ आपका-मृत्यु का-भी भय नहीं। वहाँ क्षुधा पिपासा पर विजय प्राप्त करके समस्त शोकों से रहित होकर स्वर्ग लोक में आनन्द करता है, एकमात्र आनद ही-आनद करता है। (स्वर्गलोके न भय किंचिनास्ति न तत्र त्व न जरया बिभेति। उभेती-र्त्वाशनया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके) यहाँ दोनों बार स्वर्गलोक बिना किसी विशेषण के आया है। और निश्चय ही यहाँ स्वर्गलोक से तात्पर्य-मोक्ष अथवा वैकुण्ठ-गोलोक साकेतलोक-से है। इसी प्रकार वृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा है। विमुक्त ब्रह्मविद् पुरुष इससे ऊपर स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेते हैं। (अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ता.)।"

शौनकजी ने कहा–'यहाँ स्वर्ग लोक को जो दाल्भ्य ऋषि ने साम की पूर्णतया स्थिति बतायी वह तो इन्द्रादि देवताओं के रहने वाले स्वर्ग से ही उनका तात्पर्य है। इसी के लिये उन्होंने कहा था, स्वर्गलोक से आगे नहीं जाना चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"यही तो उन्होंने भूल की। इस भूल का मार्जन महर्षि शिलक ने किया। इस प्रसङ्ग को मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

शिलक प्रश्न पुनि करयो—स्वर्ग को आश्रय को है?
कहें दाल्म्य—इक स्वर्ग वही आश्रय सब को है॥
साम स्वर्ग ही मानि करें इस्तुति सब भाई।
स्वर्गलोक ही पूर्ण प्रतिष्ठा वेद बताई॥
यह सुनि बोले शिलक ऋषि, दाल्म्य! जाइ मानत न हम।
साम स्वर्ग आश्रय नहीं, बात सत्य नहिँ कहहु तुम॥